ईशावास्य-वृत्ति

आचार्य विनोबा

●

अनुवादक

श्री कुन्दर दिवाण

●

१९५०

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५०
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक,
न्यू इंडिया प्रेस,
नई दिल्ली

निवेदन

१९४२ की जेल-यात्रा से पूज्य विनोबा अपने साथ स्थितप्रज्ञ-दर्शन, ईशावास्यवृत्ति और गीता-प्रवचन ये तीन नई रचनाएं लाये थे, और भी रचनायें थीं। लेकिन ये तीन खास थीं। इनमें से 'दर्शन' तो प्रकट हो चुका है। अब 'वृत्ति' प्रकट हो रही है।

वैदिक विचार हज़ारों साल पुराना है और उसका विकास बराबर होता रहा है—कहीं गुप्त कहीं प्रकट,कभी मन्द कभी तेज—एक नदी के समान। मध्य युग में आचार्य के बाद आचार्य हुए और उन्होंने सदियों तक भारत का समूचा वैचारिक वातावरण अपने भाष्यों से मुग्ध कर डाला, उसके बाद अनेक टीकाकार हुए और उन्होंने भी उस विचार-धारा का बृंहण किया, टीकाकारों के बाद संत आये और उन्होंने देव-भाषा की जंगल-घाटी में फंसे आरण्यक वैदिक विचार-प्रवाह को लोक-भाषा के रास्ते मुक्त किया और जनपदों में पहुँचा दिया, वैसे ही जैसे कि भगीरथ ने शिवालक में फंसे गंगा-प्रवाह को जन-पदों के लिए मुक्त किया था। वही कार्य आज भी हो रहा है, इसका दर्शन हमें गीताई, गीता-प्रवचन, स्थितप्रज्ञ-दर्शन और इस ईशोपनिषद्-वृत्ति में होता है। 'वृत्ति' को पहले 'आचार्य' विनोबा ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था। लेकिन 'संत' विनोबा ने उसे रोक दिया और लोक-भाषा में ही लिखाया, और इसी विचार से शायद, इस रचना को विनोबा ने 'भाष्य' के बदले 'वृत्ति' नाम दिया है। हो सकता है, वर्तन (याने आचरण) के लिए उपयोगी विवरण के नाते भी इसे वृत्ति नाम दिया होगा। अब उनका इरादा इस वृत्ति को और भी सुगम, बाल-बोध, बनाने का है।

खुद संस्कृत में लिखने का विचार उन्होंने छोड़ दिया, पर मुझे वह कह रखा है। उसे मैं आज्ञा ही समझता हूँ। और पागल आशा भी रखता हूँ उसको पूरी करने की। देखें कब वह भाग्य नसीब होता है।

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशु-लभ्ये फले लोभाद् उद्बाहुरिव वामनः ॥

बीच में मैंने यह हिंदी अनुवाद कर लिया है। इसमें मेरी बहुत लोगों ने मदद की है। बहन अनसूया बजाज ने लिखने का काम किया है। श्री वियोगी हरि और श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने भाषा देख ली है। इसके लिए मैं दोनों का आभारी हूँ।

हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों का और काव्यों का भी भाष्य, टीका-टिप्पणी आदि साहित्य विशाल है। प्रायः ये टीकाएं प्रतीकानुसारी होती हैं और उनसे पदार्थ का स्वच्छ ज्ञान होता है। पर वाक्यार्थ, प्रकरणार्थ और ग्रंथार्थ का सम्यग्दर्शन नहीं कराया जाता। 'वृत्ति' में ऐसा नहीं है। उसमें पदशः विवरण है; लेकिन वह प्रतिपाद्य विषय का आशय स्पष्ट करने के लिए है। अर्थात् प्रतिपाद्य मुख्य है, पद गौण। पदों का अर्थ भी वाक्यार्थ को मद्दे नज़र रखकर विचार की एकता व समग्रता की दृष्टि से किया गया है। उदाहरण के लिए सोलहवें मंत्र का अर्थ देखिये। शुरू में जो ईशावास्य-बोध दिया है। वह तो मानो हाथ में लड्डू ही रख दिया है। पूरा का पूरा ग्रंथार्थ मुट्ठी में मिल जाता है।

वैदिक विचार रूपी कल्पलता की यह कलिका कोई पांच साल पहले फूटी थी। वही आज फूली है। हिन्दी भाषी जनता-जनार्दन को मैं वह समर्पित करता हूँ।

ब्रह्म-मंदिर, गोपुरी
बसंत-पंचमी,
२२-१-५०

कुन्दर दिवाण

प्रस्तावना

ईशावास्य पर मैं कुछ लिखूं, यह खयाल बहुत पुराना है। जब मैं सासून अस्पताल में गांधीजी से मिलने गया था तब उन्होंने ऐसी इच्छा प्रकट की थी, और मैंने मंजूर भी करली थी। लेकिन तीव्र कर्मयोग के उस ज़माने में उतना निरांत निकलना सम्भव नहीं था। आगे त्रावन-कोर की हरिजन-यात्रा के बाद गांधीजी ने मुझे आज्ञा ही दी कि अपने मन को सन्तोष देने लायक जब तुम लिख सकोगे तब लिखना, पर अभी मेरे उपयोग के लायक कम-से-कम एक छोटी-सी टिप्पणी तो लिख ही दो। उसके मुताबिक मैंने एक छोटी-सी टिप्पणी लिख-कर उनको दी। उसको भी अभी दस-बारह साल बीत चुके हैं। वह टिप्पणी प्रकाशन के लिए नहीं थी। लेकिन इस बार जब मैं जेल में था, बाहर के मित्रों ने उसको प्रकाशित कर डाला और उसकी एक प्रति अचानक जेल में आ पहुँची। तब मैं सचेत हो गया और दो महीने उसी विषय का चिंतन करके एक छोटा-सा भाष्य, जिसको मैं वृत्ति नाम दे रहा हूँ, लिख लिया। वही, पिछली टिप्पणी का संशोधित और परिवर्धित संस्करण के तौर पर, प्रकट हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने जो विवरण किया है उससे इसमें बहुत जगह भिन्नता दिखाई देने वाली है। लेकिन उसमें विरोध जैसा कुछ नहीं है। वचन को अर्थ का भार नहीं होता। और अगर विचार उत्तरोत्तर आगे बढ़ा तो पूर्वाचार्यों के परिश्रम की उसमें सार्थकता ही है। भिन्न अगर कुछ भी कहने का न हो, तो फिर लिखने की आवश्यकता ही क्या है?

ईशावास्य एक पूर्ण उपनिषद है। याने पारमार्थिक जीवन का एक परिपूर्ण नक्शा उसमें थोड़े में खींचा गया है। वेदों का वह सार है

और गीता का बीज है। स्वल्प अक्षरों में सूचन किया है। जैसे "व्यूह" और "समूह" दो ही शब्दों में क्रमशः गीता का दसवां और ग्यारहवां अध्याय लपेट लिया है। "अकायं अव्रणं अस्नाविरं" इतने भर में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विवेक आ गया। देहधारी पुरुष को कर्मयोग के अलावा गति ही नहीं, यह गीता का सारा विवेचन "एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति" इन शब्दों में देख लो। "वायुरनिलम्" इस एक मन्त्र में आठवें अध्याय में आई हुई प्रयाण-साधना और सातत्य-योग दोनों की शिक्षा दी है। "ततो न विजुगुप्सते" में गीता का भक्त-लक्षण देख सकते हैं। "तत्र को मोहः कः शोकः" इतने भर से उपक्रम-उपसंहार सहित गीता समाप्त हुई। "वासुदेवः सर्वमिति" वाला वासुदेव "ईशावास्य" शब्द में छिपा है। "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" यही नवें अध्याय की राजविद्या या समर्पण-योग है। "असुर्या नाम ते लोकाः" इस मन्त्र में आसुरी संपत्ति की गति, विस्तार में न उतरते हुए, बता दी है। "योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहमस्मि" यह पुरुषोत्तम-योग है। "हिरण्मय पात्र" ही योग-माया है। चौथे-पांचवें मन्त्र में तो ज्ञेय-वर्णन स्पष्ट ही आया है। गीता का आत्मौपम्य और साम्ययोग यहां के छठे-सातवें मन्त्र पर से सीधे ही लिये हुए हैं। सत्रहवें अध्याय वाला 'ॐ तत् सत्' मन्त्र सत् के बदले सत्य शब्द के फर्क से तीन जगह बंटकर आया है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" और "कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्"—दोनों ओर साधना का वही आग्रह दिखाई देता है। "मां अनुस्मर, युध्य च" यह भगवान् की आज्ञा भक्त की भाषा में "युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः" जिस तरह परिवर्तित होती है। मन्त्र नौ से चौदह में आया हुआ बुद्धि-शोधन और हृदय-शोधन पर्याय से सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि का ही शोधन है। और यदि हम देखने ही बैठें तो दुष्टता-नियमन और साधुत्व-प्रेरणा यह दोहरा अवतार-कार्य "यम-सूर्य" के युगल विशेषण में देख सकते हैं। मैं ठहरा गीता का पागल, शायद इसीसे मुझे ऐसा दिखाई देता हो। परन्तु विस्तार को छोड़ देने पर भी इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि गीता का बीज

ईशावास्य में है।

आख़िर में मंत्र, उनका पदपाठ और हिंदी गद्य-अनुवाद दिया है। अनुवाद सुबह की प्रार्थना में बोलने लायक है। यहां परंधाम में हम ऐसे ही बोल जाते हैं। साधक की समग्र साधना इसमें थोड़े में आ गई है, इसलिए प्रातः-स्मरण के लिए वह बहुत उपयोगी है। यात्रा का आरंभ करने के पहले नक्शा देख लेना लाभदायक होता है। सभी जगह वह शुरू करने लायक है।

परंधाम, पवनार
२२ जुलाई, १९४१

—विनोबा

विषय-सूची

ईशावास्य-बोध

[स्व० महादेवभाई देसाई की तीसरी पुण्य-तिथि पर खादी-विद्यालय, सेवा-ग्राम में दिया गया प्रवचन]

भाई नारायण ने जब मुझे ईशावास्य का पाठ करने के लिए निमंत्रित किया, तब मैंने बिना संकोच उसे स्वीकार कर लिया। यद्यपि इन दिनों पाठ-वृत्ति मुझमें वैसी नहीं रही जैसे पहले थी, फिर भी पाठ में लाभ है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। पाठ के साथ-साथ उसका अर्थ जानना भी जरूरी है। और मैं समझा हूँ कि मुझे यहाँ केवल पाठ नहीं करना है, उसका अर्थ भी करना है। इसलिए अब मैं अर्थ शुरू करता हूँ।

यह एक छोटी-सी उपनिषद् है। और शायद ही ऐसी कोई दूसरी छोटी रचना हो, जिसमें इतना अर्थ समाविष्ट किया गया हो। हम रोज़ गीता का पाठ करते हैं। वह भी छोटी ही है। फिर भी उसमें अठारह अध्याय हैं। पर इसमें तो केवल अठारह श्लोक हैं। लोग मानते हैं कि दुनिया का पहला ग्रंथ वेद है। वेदों का रहस्य जिन ग्रंथों में आया है, उनको वेदांत कहते हैं। ईशावास्य एक वेदांत-ग्रंथ है। वेदांत के ग्रंथ तो वैसे बहुत हैं। पर इसमें थोड़े में वेदों का सार आ गया है, और उसका भी निचोड़ पहले मंत्र में आया है।

उसका अर्थ है कि दुनिया में जो भी जीवन है, सब ईश्वर से भरा है। कोई चीज़ ईश्वर से खाली नहीं है। सत्ता की भाषा में बोलें, तो यहाँ केवल उसीकी सत्ता है। वही एक मालिक है। यह समझ कर हमें सब उसीको समर्पण करना चाहिये और जो कुछ उसके पास से

मिले, प्रसाद समझ कर ग्रहण करना चाहिये। यहाँ मेरा कुछ भी नहीं, सब ईश्वर का है—ऐसी भावना रखनी चाहिये। जो पुरुष इस तरह रहेगा—कोई भी चीज़ अपनी नहीं मानेगा—सभी उसका होगा, सब उसे मिल जायगा। जो कुछ उसे मिलेगा, उसमें वह संतुष्ट रहेगा। दूसरे का मत्सर नहीं करेगा। किसीके धन की अभिलाषा नहीं करेगा। इस छोटे-से मंत्र में एक महान् जीवन-व्यापी सिद्धान्त बता दिया है, और उसे अमल में लाने का उपाय भी। ईश्वर-समर्पण, प्रसाद के रूप में ग्रहण, मत्सर न करना, धन की वासना न करना—इस प्रकार एक संपूर्ण विचार इस मंत्र में हमारे सामने रख दिया है।

अक्सर हम देखते हैं कि मनुष्य दूसरे के धन की अभिलाषा करता है। यह क्यों? इसलिए कि वह आलस्य में जीना चाहता है। दूसरे मंत्र में इसलिए कहा है कि बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना जीवन के साथ बेईमानी है। अर्थात् निरंतर कर्म करते हुए जैसी ज़िन्दगी भगवान् हमें दे, जीना चाहिये। जब हम कर्म को टालते हैं, जीवन भाररूप होता है—शापरूप होता है। जाने-अनजाने हम सब यह कर रहे हैं, इसीसे हम दुःख भोग रहे हैं। और दुनिया में जो पाप हैं, वे भी बहुत सारे इसीसे पैदा हुए हैं।

तीसरे मंत्र में आगे चलकर बताया है कि भाई, अगर भगवान् को भूल जाते हो, भोग-प्रधान-वृत्ति रखते हो, कर्मनिष्ठा को छोड़कर आलस को अपनाते हो, तो इसी ज़िन्दगी में नरक में पड़ते हो। और जो स्थिति ज़िंदगी में है उसीके अनुसार मरने के बाद भी गति होगी, यह वस्तु तीसरे मंत्र में समझाई है।

मंत्र चार और पाँच का एक स्वतंत्र परिच्छेद होता है। उसका सार यह है कि ईश्वर की शक्ति अलौकिक है। वह असीम है। उसके बारे में हम तर्क नहीं कर सकते। हमारे तर्क से वह सीमित हो जायगा। गीता में बताया है कि ईश्वर जब अवतार लेता है, तब वह महान् कर्म करता हुआ दिखाई देता है, पर उस कर्म का लेप उसे नहीं लगता।

उस समय भी वह अकर्मा रहता है। इससे उलटे, जब वह अपने मूल रूप में रहता है, अर्थात् अवतार ग्रहण नहीं करता है, तब वह कुछ भी नहीं करता दिखाई देता है, पर उस वक्त भी वह सारी दुनिया का शासन करता रहता है। अर्थात् अकर्मा भी वह सब कर्म करता है। यही उसका व्यापक स्वरूप यहां रख दिया है।

फिर तीन मंत्रों में ईश्वर-भक्त का वर्णन है। वह अपने में सब को और सब में अपने को देखता है। यही भक्ति है। भक्ति से निज-पर का भेद मिट जाता है। मनुष्य ने अपने बीच हज़ारों दीवारें खड़ी की हैं। राष्ट्र, समाज और कुटुम्ब में लड़ाई-झगड़े इसीसे पैदा हुए हैं। इस निज-पर के भेद को मिटाना ईश्वर के ज्ञान का फल है। जो ईश्वर की भक्ति करने वाला है, वह इसी रास्ते पर अग्रसर होता है। दिन-दिन उसकी आत्म-भावना बढ़ती जाती है। अर्थात् वह सोचता है कि जैसे मेरे शरीर की वासनाएं हैं, दूसरों के भी हैं। इसलिए उनको खिलाकर खाऊँ और पिलाकर पीऊँ। मुझमें और मेरे कुटुम्ब में कोई भेद नहीं, इसी तरह देहात-देहात और राष्ट्र-राष्ट्र में कोई फ़र्क नहीं है। इतना ही नहीं, मनुष्य और पशु में भी वह भेद नहीं करता। इस प्रकार वह अपना-पराया भेद मिटाता जाता है। जो इस तरह रहता है, उसका जीवन आनंदमय बनता है। इस प्रकार ईश्वर-निष्ठ पुरुष का या आत्म-ज्ञानी का वर्णन करके आठवें मंत्र के अंत में पूर्वार्ध समाप्त किया है।

आगे के तीन मंत्रों में बुद्धि का कार्य बतलाया है। बुद्धि भगवान् ने हमारे हाथ में एक बड़ा हथियार दिया है। इससे हम अपनी उन्नति कर सकते हैं और अवनति भी। हमें चाहिये कि हम उन्नति करें। दुनिया में जितना भी ज्ञान है उस सारे ज्ञान की हमें आवश्यकता नहीं है। कुछ तो आवश्यक ज्ञान होता है, कुछ अनावश्यक। आवश्यक व अनावश्यक ज्ञान का विवेक करना हमें सीखना चाहिये। जो ज्ञान आवश्यक नहीं, उससे जीवन बरबाद होगा और बुद्धि पर व्यर्थ का बोझ पड़ेगा। और जो आवश्यक है वह अगर हासिल नहीं किया, तो मनुष्य अपना कर्तव्य

पूरा नहीं कर सकेगा। इसलिए इन मंत्रों में कहा है कि विद्या भी चाहिए और अविद्या भी। जो आवश्यक नहीं है, उसका अज्ञान ही रहने दें। अगर ग़फ़लत से अनावश्यक ज्ञान हो जाय, तो प्रयत्न-पूर्वक उसे भूल ही जाना चाहिए। साथ ही हमें यह भी पहचानना चाहिए कि हम तो ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से बुद्धि ईश्वर-परायण रहती है। नहीं तो वह अवनति के लिए कारण हो सकती है।

आगे के तीन मंत्रों में हृदय-शोधन आया है। जिस तरह बुद्धि की शुद्धि करना आवश्यक है, उसी तरह हृदय की भी। हमें हृदय में देखना चाहिए। हमारे हृदय में दोष और गुण भरे हैं। तब हमें क्या करना चाहिए? हमें गुणों की 'संभूति' करनी चाहिए। उनका विकास करते रहना चाहिए। उन्हें उज्ज्वल बनाना चाहिए और दोषों की 'असंभूति' करनी चाहिए। अर्थात् नये दोष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, और जो हों उनका विनाश करना चाहिए। जो कुछ भी हम करते हैं, उसमें हमारी दृष्टि केवल चित्त-शुद्धि की होनी चाहिए। बाह्य दृष्टि से किसी कर्म में हमें खूब सफलता भी मिले और लोग हमारा जयजयकार करने लगें, फिर भी अगर उस कर्म से हमारे गुण नहीं बढ़े हैं, तो वह कर्म बुरा है। उससे हमने अपनी अवनति की है, और दुनिया की भी होने दी है। साथ ही हमें यह भी पहचानना चाहिए कि हम तो दोष और गुण दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप हैं। इस तरह अभ्यास करने से सच्ची हृदय-शुद्धि होगी।

इसके आगे एक महान् मंत्र आया है उसमें दर्शन का सार आ जाता है। दर्शन-सार यह है कि दुनिया में सत्य छिपा हुआ है। वह मोह के आवरण से ढँका है। जबतक उस मोह के आवरण का हम भेद नहीं करते हैं, तबतक सत्य का दर्शन नहीं होता है। वह इसलिए नहीं कि बुद्धि-शक्ति की कमी है। दर्शन तो बुद्धि पर मोह का आवरण होने के कारण ही नहीं होता है। एक मोह कांचन-मोह है। बाहर और अन्दर भी

इस मोह के कारण परदे पड़ते हैं। उसके कारण सत्य का दर्शन नहीं होने पाता। और भी तरह-तरह के मोह हैं। उनको "हिरण्मय पात्र" अर्थात् सोने का ढकना कहा है। अगर सत्य के दर्शन करना है, तो वह सोने का ढकना दूर हटा देना चाहिये।

आखिर के तीन मंत्रों में हमारा विकास-क्रम बतलाया है।

मंत्र सोलह में बताया है कि जिसे ईश्वर कहते हैं, वह इस संसार को प्रेरणा देता है, उसका पालन-पोषण करता है, और नियमन करता है। वह संसार का नित्य निरीक्षण करता है। ऐसी जिसकी शक्ति गाई जाती है, उसके सामने तो मैं एक तुच्छ जीव हूँ। पर उसमें और मुझ-में तत्त्व-भेद नहीं है। क्योंकि उसीका मैं अंश हूँ। वही मैं हूँ। मुझ-पर यह देह एक आवरण है। यह एक सुवर्ण-पात्र है। इसके भीतर मैं छिपा हूँ। इस देह को अगर हम भेद सकते हैं, तो उस 'मैं' का दर्शन होता है। ईश्वर जिस प्रकार पूर्ण है, सुन्दर है, मैं भी हूँ—हो सकता हूं। 'सोऽहम्' मंत्र ने यह आश्वासन हमें दिया है।

फिर कहा है कि इसकी हमें आमरण साधना करनी है। जितने भी भेद हैं, सब बाहरी हैं, देह के साथ हैं। मुझमें—आत्मा में—कोई भेद नहीं है। बाहरी आवरणों को भेद कर हमें अंतर्यामी के पास पहुँचना है। काला-गोरा, पतला-मोटा, मूढ़-चतुर, नीतिमान्-अनीतिमान्—सभी भेद ऊपरी हैं, देह के साथ हैं। इन्हें हमें भूल जाना है और अन्दर की वस्तु को ग्रहण करना है। ऋषि कहता है कि जो इस तरह आमरण साधना करता है, उसका देह जब गिर जाता है, तो उसकी मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है और आत्मा परमात्मा में मिल जाता है।

आखिरी मंत्र भगवान् की प्रार्थना है। भगवान् को मार्ग-दर्शक अग्नि के रूप में देखा है। जो अग्नि हममें रहकर हमें ज़िंदा रखता है, जिसके न रहने से शरीर ठण्डा पड़ जाता है; वह जो गरमी है, वह उपासना के लिए चैतन्य का एक संकेत है। उससे हम चैतन्य पहचानते हैं। वह चैतन्य की व्याख्या नहीं है। अग्निस्वरूप चैतन्यदायी भगवान्

से प्रार्थना की है कि हे प्रभो, जबतक हममें चेतना है, गरमी है, हमें सीधी राह पर रख। हमें वक्र मार्ग से न ले जा। आप लोग बुनने का काम करते हैं और शायद इस मंत्र का ऋषि भी बुनकर होगा। आप जानते हैं कि बुनते वक्त अगर हत्थे की ठोंक टेढ़ी लगती है तो कपड़ा टेढ़ा हो जाता है, बिगड़ता जाता है। इसलिए भगवान् से इस अन्तिम मंत्र में प्रार्थना की है कि हे प्रभो, हमारे जीवन में किसी तरह की वक्रता न आने दे। हमें सीधी राह से ले जा। अगर मुझसे पूछा जाय कि किस गुण को गुणों का राजा बनाओगे, तो मैं किसी एक गुण को स्थायी राजा बनाने के बजाय निर्वाचन-पद्धति से काम लेना पसंद करूंगा, और भिन्न-भिन्न गुण एक अवधि के लिए राजा बनेंगे। लेकिन जिन गुणों को मैं राजा बनाऊं, लगता है, उनमें ऋजुता का स्थान पहला रहेगा। जहाँ ऋजुता है, सरलता है, वहाँ धर्म है, वहाँ जीवन है। जहाँ वक्रता है, वहाँ अधर्म है, मृत्यु है। कातने वाला जानता है कि तकुआ सीधा चाहिए। उसमे टेढ़ापन ज़रा भी नहीं चलता। तकुआ जिस तरह टेढ़ापन सहन नहीं करता, उसी तरह हम भी अपने जीवन में वक्रता को बिलकुल सहन न करें। काया-वाचा-मन से अंदर-बाहर हम सरल हो जायं। ऐसे सरल जीवन के लिए हमें बल दे ऐसी इस मंत्र में प्रार्थना की है।

उपनिषद् के आरम्भ में और अन्त में शान्ति-मंत्र बोलते हैं। उस का अर्थ है—सब पूर्ण है, इसलिए सर्वदा शांति रखनी चाहिए। अशांति का कोई कारण ही नहीं। पर हमें तो आभास होता है, जिधर देखो उधर दुःख भरा है, सब अपूर्ण है, और उसे हमें पूरा करना है। लेकिन ऐसा नहीं है। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है सही, पर उसको जानना चाहिए कि मैं नया कुछ नहीं करता हूं। घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद था, छुपा था। मैं तो बीच में निमित्तमात्र खड़ा हो गया हूँ। इसी तरह शिक्षक भी सोचेगा। वह विद्यार्थी को ज्ञान नहीं देता है। ज्ञान तो विद्यार्थी के दिमाग़ में भरा ही है। शिक्षक उस ज्ञान को प्रकट

करने भर में मददगार बनता है । इसी तरह माता-पिता भी सोचें । दुनिया पूर्ण है, लेकिन हमें बीच में खेल करने का मौका मिला है । पानी में लहरें उठती हैं । एक लहर उठती है और मिट जाती है । उसके पीछे दूसरी लहर उठती है और वह भी मिट जाती है । किन्तु होता है सब पानी-ही-पानी । वैसे ही हम भी हैं । जब हम काम करते हैं और गिर जाते हैं, दूसरे उठते हैं । इस तरह जब हम सोचते हैं, अशांति का कोई कारण ही नहीं रहता । इसलिए अन्त में कहा है ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

ईशावास्य-वृत्ति

उपोद्घात

(१) ईश-स्मरणपूर्वक 'ईशावास्य' उपनिषद् की यथाश्रुति यथामति छोटी-सी वृत्ति लिखता हूँ। आशा है, यह श्रुतिका हृदय खोल देने वाली होगी। जीवन में वह भिद जाय, देह-बुद्धि मिट जाय।

(२) सब से पहले उपनिषद् शब्द का अर्थ देखें। 'उप' 'नि' ये दो उपसर्ग और 'सद्' धातु से यह शब्द बना है। उपनिषदों ने ही स्वयं इस शब्द की व्याख्या इस तरह सूचित की है—"*यदा वै बली भवति, अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति*" (*छां० ७।८।१*)। जब मनुष्य बलवान् होता है तब वह उठकर खड़ा होता है और उठकर खड़ा होने पर गुरु की सेवा करता है। फिर वह गुरु के पास (उप) जाकर बैठता है (सद्), पास में जाकर बैठने पर वह गुरु का जीवन ध्यान से देखता है, उनका व्याख्यान सुनता है, उसे मनन करता है, समझ लेता है, और उसके अनुसार आचरण करता है। उसमें से अंत में उसे विज्ञान याने अपरोक्ष अनुभूति का लाभ होता है। वही उपनिषद् है। 'नि' अर्थात् 'नितराम्' 'निष्ठा से'—यह उपसर्ग इस व्याख्या में छूट गया-सा दीखता है। परन्तु सेवा में निष्ठा आ ही जाती है।

(३) किंतु 'नि' उपसर्ग का यह सूचित अर्थ स्पष्ट करने वाली और 'सद्' धातु का दूसरा अर्थ लेकर मानो और एक व्याख्या उपनिषद् में एक दूसरी जगह सुझाई गई है— *"ब्रह्मचारी आचार्यकुल-वासी, अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुलं अवसादयन्"* (*छां० २।२३।१*)। ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के पास रहकर (उप), गुरु-सेवा में अपने आपको अत्यन्त याने निःशेष रूप से (नि), खपाने वाला (सद्), जो रहस्यभूत विद्या प्राप्त करता है, वह है उपनिषद्।

(४) दोनों पर्यायों को एकत्र करके अर्थ इस प्रकार निष्पन्न होगा—(१) आत्मबल (२) उत्थान (३) ब्रह्मचर्य (४) गुरु-सेवा में शरीर को निःशेष खपा देना (५) गुरु-(हृदय-) सांनिध्य (६) जीवन-निरीक्षण (७) श्रवण (८) मनन (९) अवबोधन (१०) आचरण (११) अनुभूति। इतना सारा भाव इस छोटे-से शब्द में अन्तर्निहित है। इस तरह 'उपनिषद्' शब्द से समग्र ज्ञानसाधना और उससे फलित होने वाला ज्ञान दोनों ही सूचित होते हैं। *'अमानित्वम्', अदम्भित्वम्', 'आचार्योपासनम्'* आदि प्राथमिक सद्गुणों से लेकर *'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वम् तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शनम्'* तक सारा साध्य-साधन गीता ने 'ज्ञान' शब्द में भर दिया है। ठीक वैसे ही व्यापक अर्थ का यह 'उपनिषद्' शब्द है। उपनिषद् के विषय-विवेचन का विस्तार इस व्यापक व्याख्या के अनुरूप ही है।

(५) उपनिषदों की 'वेदांत' भी एक संज्ञा है। यह संज्ञा ईशावास्य पर अक्षरशः और विशेष अर्थ में लागू होती है। क्योंकि ईशावास्य यजुर्वेद का अंतिम अध्याय ही है। परन्तु 'वेदांत' शब्द से 'वेदरहस्य' ऐसा अर्थ अभिप्रेत होता है। इस अर्थ में ईशावास्य शिरोमणि उपनिषद् है, उत्तम वेदरहस्य है। जितना छोटा उतना ही महान्। ज्ञानदेव की भाषा में *"आंगें सानें परिणामें थोर, जैसें गुरुमुखीं*

चें अक्षर" [देह से छोटा, पर परिणाम की दृष्टि से महान्; जैसे गुरुमुख का (मन्त्र-) अक्षर] और ईशावास्य का आरंभ भी इसी ढंग का है, मानो कोई गुरु किसी शिष्य को रहस्यबोध करा रहा हो।

(६) वैदिक विवेचन-पद्धति में विषय का विभाजन त्रिकों से, द्विकों से और एककों से करने की ओर प्रवृत्ति रहती है। उसके अनुसार यहां तीन-तीन मन्त्रों के पांच त्रिक, दो मन्त्रों का एक द्विक और एक मन्त्र का एक एकक इस तरह कुल अठारह मन्त्रों के सात विभाग किये गये हैं। प्रत्येक मन्त्र दूसरे मन्त्र से एक विशिष्ट आकांक्षा से ग्रथित है और सब में ईश्वर-भक्तिरूप एक अखंड धागा पिरोया हुआ है।

(७) तत्त्व-विचार का त्रैगुण्य, ध्यान-योग की त्रिमात्रा, तर्क की वाक्यत्रयी आदि कारणों से त्रिक अनुकूल होते हैं। एक ही विचार के परस्पर विरोधी या परस्पर-पूरक अथवा गौण-मुख्य अंग दिखाने के लिये द्विक उपयुक्त होते हैं। और पूर्ण विचार सूत्र रूप में रखने के लिये एकक अनिवार्य होता है। यहां के विषय-विभाग में ठीक ऐसी ही व्यवस्था दिखाई देती है।

(८) कर्मकांड बताता है कि *"मन्त्र का ऋषि, देवता और छंद का ज्ञान प्राप्त न कर मन्त्रपाठ करने वाला व्यक्ति खड्डे में गिरता है।"* वेदांत को ऐसा कोई भय नहीं; फिर भी यह जानकारी प्राप्त कर लेना उपयोगी अवश्य है। यहां ऋषि 'नारायण' माना गया है। इसका अर्थ है नारायण-स्वरूप हुआ यह कोई अहंशून्य ऋषि, जिसका नाम मालूम नहीं, याने जो अपने नाम का लोप कर सका है। किसी-किसीने 'दध्यङ् आथर्वण' ऋषि माना है। इसका 'मधुविद्या' के द्रष्टा के रूप में बृहदारण्यक में वर्णन आया है (बृ० २।५।१६–१७)। 'ईशावास्य' सब उपनिषदों का 'मधु' होने के कारण यह कल्पना ठीक बैठती है। और 'त्यक्तेन

भुञ्जीथाः' इस शिक्षा को दधीचि ऋषि-जैसे त्यागमूर्ति के मुख से सुनने में विशेष स्वारस्य है। देवता 'परमात्मा' है । छंद अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् हैं, किन्तु मुक्त हैं । तेरह मन्त्र अनुष्टुप छंद में हैं; पांच मन्त्र त्रिष्टुप् छंद में हैं । इन में से आठवाँ व सोलहवाँ प्रसारित त्रिष्टुप् हैं। इसका निदर्शन उस मन्त्र के व्याख्यान में किया गया है।

शांति-मन्त्र

ॐ। पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ। वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी, पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(९) 'पूर्णस्य पूर्ण आदाय" आदि विचार ऊपर-ऊपर से देखने से विचित्र-सा मालूम देता है । किंतु गणित-शास्त्र उसीको अक्षरशः मानता है। पूर्ण शब्द के स्थान पर गणित-शास्त्र 'अनंत' कहता है, बस इतना ही अंतर है।

(१०) विश्वेश्वर पूर्ण है। विश्व पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकला है। उत्पत्ति से पूर्ण बढ़ता नहीं, प्रलय से घटता नहीं। इस तरह यह पूर्ण का खेल चल रहा है। इतना दर्शन हो जाने पर अशान्ति का फिर कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए यह 'शान्ति-मन्त्र' है।

(११) पूर्ण की लीला का दर्शन होने पर अशान्ति का कोई कारण नहीं रहता, उपरंच विकास के लिये पूर्ण अवसर रहता

है। बल्कि कहना चाहिये कि *'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते'* यह विकास का ही सूत्र है। विकास में नवीन कुछ बनाने का नहीं होता। अंदर छिपा हुआ बाहर (उद्) निकालना होता है (अञ्च्)। यही शिक्षण-शास्त्र है।

(१२) शान्ति-मन्त्र उपनिषद् के अंत में और आदि में पढ़ना होता है। आदि में श्रद्धा से, अंत में समाधान से।

(१३) उपनिषदों में आए शान्ति-मन्त्र उपनिषदों के बाहर के माने जाते हैं। इसी तरह यह मन्त्र भी ईशावास्य के बाहर का है। किन्तु वह बृहदारण्यक में (५।५।१) समाविष्ट होने के कारण उपनिषद्-भाग बन गया है।

(१४) शान्ति-मन्त्रों का उद्देश्य अध्ययन के अनुकूल चित्त-वृत्ति तैयार करना ही होने के कारण उनका ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से संबन्ध जोड़ने की आवश्यकता नहीं मानी गई है (ब्र० सू० ३।३।२५)। किंतु फिर भी इस शान्ति-मन्त्र में ईशावास्य का मानो सार ही कह दिया है। शुरू के, पहले मन्त्र में ही उसका दर्शन हमें हो जाता है (और देखो मन्त्र ५)।

: १ :

ॐ। ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थ—हरिः ॐ। जगत् में जो कुछ जीवन है, वह ईश्वर का बसाया हुआ है। इसलिए उसके नाम से त्याग कर के, तू यथाप्राप्त भोगता जा। किसीके भी धन के प्रति, वासना न रख।

(१५) 'ईश' या 'ईश्वर' याने राज्यकर्ता, सत्ताधारी। ईश्वर की व्यापक सत्ता मन्त्र ४ व ५ में थोड़े में बताई है। किंतु हम कहते हैं, "हमें किसीकी भी सत्ता नहीं चाहिए और किसीका भी राज्य नहीं चाहिए"। उसका जवाब—ईश्वर का राज्य 'राज्य' नहीं होता है। वह केवल 'प्राजापत्य' होता है (मंत्र १६)। "किंतु हमें वह भी नहीं चाहिए। हमारे ही हाथ में सत्ता होनी चाहिए।" ठीक है। यह सत्ता भी आखिर तुम्हारी ही तो है। आप सोऽहं-सिद्धि प्राप्त कर लें तो काम हो गया (मन्त्र १६)। पर उसे प्राप्त किस तरह करोगे? ईश्वर की सत्ता मानकर ही वह प्राप्त हो सकेगी। अपना संकल्प उसमें मिला देने से ही यह संभव होगा (मन्त्र १७)।

(१६) ईश + आवास्यम् = ईशावास्यम, यह सामासिक पद है। ईशावास्यम् अर्थात् अक्षरशः ईश्वर का आवासस्थान। सारा जीवन ईश्वरमय है। अर्थात् जिस तरह ईश्वर मंगल है, उसी तरह वह भी मंगल है। पर कोई कोई उसे मिथ्या कहते हैं। यह कैसे? मिथ्या कह सकते हैं। क्योंकि जब सब ईश्वरमय ही है, तो एक 'ईश्वर' नाम लेने के बाद दूसरा नाम लेने के लिए और कुछ बचता ही नहीं।

(१७) 'ईशावास्यम्' के बदले 'ईशा वास्यम्' भी एक पाठ है। उसके अनुसार उसका अर्थ 'ईश्वर से अर्थात् ईश्वर-भावना से जगत् को ढँक डालें' ऐसा शंकराचार्य ने किया है। यह अर्थ भी रोचक है। इस घड़ी जगत् से ईश्वर ढँका हुआ है (मंत्र ५)। उसका, मानो, प्रतिशोध लेने की यह योजना है।

(१८) 'ईशावास्यं इदं सर्वम्' इसका समानार्थक 'वासुदेवः सर्वं इति' (गीता ७।१६)। वासुदेव अर्थात् 'सर्वत्र बसने वाला देव' ऐसी निरुक्ति है।

(१६) ईशावास्यम् इदं सर्वम्—यह सारा ईश्वर से भरा हुआ

है, इस तरह मानो कोई आँखों के सामने जो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, उसका वर्णन कर रहा है (देखो मन्त्र १६)। सब 'फिनाँमिनन' में 'नाउमिनन' व्याप्त रहता है, अथवा सब 'विशेषों' में एक 'सत्ता-सामान्य' अनुस्यूत रहता है, ऐसा शाब्दिक या तार्किक वर्णन यह नहीं है। सत्ता-सामान्य के तर्क से किसी भी तरह 'ईशसिद्धि' नहीं हो सकती।

(२०) 'जगत्' याने (मराठी में अक्षरशः 'जगणारें') जीने वाला, जीवनवान्। जगत् में तमाम चीजें जीवनवान् हैं। कहीं जीवन सुप्त है, तो कहीं प्रकट। सभी ईश्वर से बसा हुआ है, व्याप्त है, भरा हुआ है।

(२१) *'जगत्यां जगत्'*—स्थूल सृष्टि के पेट में एक सूक्ष्म जगत् छिपा हुआ है। वहां ईश्वर विराजमान है। ऊपरी आवरण मोहक होने के कारण भीतर ध्यान नहीं जाता। आवरण को दूर हटाकर देखना होगा (मन्त्र १५)।

(२२) *'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'*—भावार्थ ऊपर दिया ही है। अक्षरार्थ जरा मुश्किल है। एक रचना—तेन (तस्मात्) त्यक्तेन (त्यागेन) भुञ्जीथाः। दूसरी रचना—त्यक्तेन (परित्यक्तेन) तेन (जगता) भुञ्जीथाः। तीसरी रचना—सति सप्तमी के ढंग पर 'सता तृतीया' करके—तेन (जगता) त्यक्तेन (परित्यक्तेन) सता, भुञ्जीथाः। चौथी रचना—तेन (ईशेन) त्यक्तेन (दत्तेन) भुञ्जीथाः। ये सारी रचनाएँ मिलाकर भी भावार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। पहली रचना सबसे सरल मालूम होती है, पर दूसरी भी रचनाओं को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। इन सभी रचनाओं में 'भुञ्जीथाः' का अर्थ नहीं बदला है। उसे भी बदलकर अर्थ किया जाता है, पर वह गौण तथा अनावश्यक प्रतीत होता है।

(२३) ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर लेने पर मनुष्य का

'स्वामित्व' सहज ही दूर हो जाता है । उसीको '*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*' इस वाक्य से विशद किया है। यह गीता के नवें अध्याय की राजविद्या है। यह भोग की नहीं, त्याग की विधि है। वास्तव में त्याग और भोग के भेद को ही मिटा देने वाली यह युक्ति है।

(२४) अगर ईश्वर की सत्ता पहचानकर त्यागवृत्ति को स्वीकार कर लिया, तो औरों की भोगवृत्ति के प्रति ईर्ष्या करने का कारण ही नहीं रहता। उसीको '*मा गृधः कस्य स्विद् धनम्*' इस वाक्य से बतलाया है।

(२५) वैदिक साहित्य में सामान्यतया 'गृध्' धातु अकर्मक है और 'क' के साथ 'स्वित्' प्रश्नार्थक होने के कारण यहां 'मा गृधः,' 'कस्य स्विद् धनम् ?' ये दो वाक्य होना सम्भव है। ऐसा यदि माना जाय, तो अर्थ इस तरह होगा—"तृष्णा मत रख। (क्योंकि) धन किसका है ?"

(२६) 'गृधः' 'गृध्' धातु का रूप है। अंग्रेजी का 'ग्रीड' शब्द इसीसे बना है। 'गृध्' धातु से 'गृध्र' याने गिद्ध शब्द बनता है। वेदों में दूसरे का धन हड़पने वाली वृत्ति को 'गृध्र-वृत्ति' यह यथार्थ नाम दिया गया है।

(२७) इस मन्त्र में वैदिक धर्म का सब सार संचित हो गया है। (१) ईश्वरी सत्ता का स्वीकार, अतः (२) स्वयं त्यागवृत्ति से जीवन व्यतीत करना, और इसीलिए (३) औरों की भोगवृत्ति के प्रति ईर्ष्या न करना; यह तिहेरा वैदिक धर्म है। स्वात्मा, परात्मा, और परमात्मा सम्बन्धी कर्तव्यों का इसमें सुलझाव हो जाता है।

: २ :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतᳬं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थ—इह लोक में कर्म करते-करते ही, सौ साल तक जीने की इच्छा करें। तुझ देहवान् के लिए यही मार्ग है। इससे भिन्न मार्ग नहीं है। मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता, फल-वासना चिपकती है।

(२८) परधनाकाङ्क्षा अर्थात् 'पराया माल अपना' वाली परिश्रम टालने की वृत्ति। उसके विरुद्ध कर्मनिष्ठा की विधि सहज ही प्राप्त हो जाती है। इस मन्त्र का यही प्रयोजन है।

(२९) *'कुर्वन् एव जिजीविषेत्'* । कर्मयोग से बचने वाले को मानो जीने का हक ही नहीं, ऐसा श्रुति सूचित करती है। कर्म-योग ही जीवन है, अकर्मण्यता ही मरण।

(३०) इह अर्थात् इस लोक में ऐहिक जीवन का पारमार्थिक दृष्टि से भी मूल्य है; क्योंकि ऐहिक जीवन परमार्थ की एक कसौटी है। जिसका ऐहिक जीवन पावन नहीं है, उसके पारलौकिक का क्या पूछें ? अगला मन्त्र इसीका विवरण करता है।

(३१) *'जिजीविषेत्'*। यहाँ जीने की इच्छा की विधि नहीं है; कर्म करने की विधि है। वह जीने की इच्छा का इलाज है। जीने की इच्छा जैसे मुझे है वैसे ही औरों को भी है, इसका भान इसमें सूचित होता है।

(३२) *'जिजीविषेत् शतं समाः'*। कर्मयोग-निष्ठा से मानव-समाज शतंजीवी हो, ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। कोई

बिलकुल परिश्रम न करे और उससे दूसरों पर अत्यधिक भार पड़े इससे दोनों की ही आयु का क्षय होता रहता है।

(३३) जैसे नींबू का सैकड़ा १२० का, रत्तलों का ११२ का, और नाम-स्मरण का १०८ का मानते हैं, उसी तरह आयुर्मान का सैकड़ा ११६ बरस का मानें—ऐसी शिक्षा श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि द्वारा दी गई उपनिषद् में आती है। (छां० ३।१६)। उस योजना में पहले २४ बरस अध्ययन के, बीच के ४४ बरस कर्मयोग के और अन्त के ४८ बरस चिंतन के माने गये हैं।

(३४) *'अदीनाः स्याम शरदः शतं'*—दीन न होते हुये १०० बरस जीएँ, ऐसी वेदों की शिक्षा है। *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'* में वही सूचित है।

(३५) *'त्वयि'*। मां जैसे बच्चे को तू-कार से संबोधन कर आज्ञा देती है, वैसे ही इस मंत्र में तथा इसके पहले के मन्त्रों में श्रुति ने हमें प्रत्यक्ष आज्ञाएँ दी हैं। सहज ही ऐसे वचन अन्य सामान्य बोध देने वाले वचनों से अधिक बलवान माने जाते हैं।

(३६) *'इतः'* अर्थात् देह में रहते हुए। देह में होते हुए कर्मयोग के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्योंकि *"नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माणि अशेषतः"* (गीता १८।११)।

(३७) *'न कर्म लिप्यते नरे'*—कर्म मनुष्य से चिपक नहीं सकता। यह एक महान् सिद्धांत है। कर्म जड़, मनुष्य चेतन। मनुष्य से वह कैसे चिपके। मनुष्य अगर स्वयं उसे चिपका ले, तो अलग बात।

(३८) *'नरे'*=नेतरि। व्युत्पत्ति से नर शब्द नेतृत्व-सूचक माना है। मनुष्य कर्म का नेता है। कर्म को वह अनुशासित करने वाला है। कर्म उसे क्या बाँध सकता है? भगवान् ने कहा ही है, *'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'* (गीता ४।१४)। जो फिर

नर भी उसीका अनुभव लें।

(३६) "प्रस्तुत मन्त्र की कर्मनिष्ठा की विधि क्या ज्ञानी पुरुष पर लागू होती है?" इस विषय में, ब्रह्मसूत्र में, तात्त्विक चर्चा को उठाया गया है। निर्णय दिया है कि विधि के नाते खास ज्ञानी पुरुष के लिए यह नहीं कहा गया है। सामान्यतया सभी के लिए कहा है। ज्ञानी पुरुष उसके अनुसार चले तो उसे कोई बाधा नहीं। उलटे, उससे उसके ज्ञान का एक प्रकार से गौरव ही है। क्योंकि उसकी कर्मनिर्लेप स्थिति उससे संभवतः अधिक ही शोभा पायेगी, (ब्र० सू० अ० ३।४।१३-१४)।

(४०) गीता के कर्मयोग का स्मरण कराने वाला, गीता के पहले का इतना स्पष्ट वचन दूसरा नहीं पाया जाता।

: ३ :

असुर्या नाम ते लोका
अन्धेन तमसावृताः।
ता ँस् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति
ये के चात्महनो जनाः॥

अर्थ—आत्मज्ञान से शत्रुता करने वाले जो कोई आत्मघातकी जन हैं, वे देह-पात के बाद, गाढ़ अन्धकार से घिरी हुई आसुरी कही जाने वाली योनि की ओर मुड़ते हैं।

(४१) '*आत्महनः*'—आत्मघातकी याने ऊपर के दो मन्त्र की शिक्षा न मानने वाले अर्थात् भक्ति-हीन, भोगपरायण, लोभी, अकर्मण्य मनुष्य।

(४२) '*आत्महनः*' की भाषा (औपचारिक) ऊपरी है। वास्तव में आत्मा का घात संभव नहीं। किसीकी भी शक्ति उसपर नहीं चल सकती। उलटे, सब की संपूर्ण शक्ति उसीके आधार पर

स्थित है (देखो मन्त्र ४)। परन्तु बुद्धि की उपाधि को ध्यान में लाकर, बुद्धिनाश होने पर आत्मनाश हुआ ऐसी भाषा का प्रयोग होता है (गीता २।६३)। *'तद्गुण-सारत्वात् तु तद्-व्यपदेशः'* अर्थात् बुद्धि-गुणानुसार आत्मा के विषय में भाषा बोली जाती है, ऐसा इस विषय का न्याय ब्रह्मसूत्र में आया है (ब्र. सू. अ. २।३।२९)।

(४३) *'जनाः'* याने केवल जन्म पाया, नर-जन्म सफल नहीं किया। नर के नारायण बन सकते थे, उसके बदले जन ही रहे। 'जन्तु' संज्ञा के पात्र बने।

(४४) मनुष्य-जन्म के उद्देश्यभूत आत्म-ज्ञान की प्राप्ति पर ही जिन्होंने कुल्हाड़ी मार दी वे मनुष्य जन्म का अधिकार खोकर दीर्घकाल तक आत्मज्ञान का मार्ग ही बंद कर देते हैं, ऐसा इस मन्त्र का अर्थ है। दूसरे मन्त्र के 'नरे' पद में इसे सूचित किया ही है।

(४५) *'असुर्याः'* के स्थान पर एक पाठ *'अनंदाः'* भी बृहदारण्यक (४।४।११) में मिलता है, और कठ० (१।३) में पाया जाता है। वह अर्थ है—आनंदशून्य, दुःखमय।

(४६) *'असुर्याः'* के बदले *'असूर्याः'* भी एक पाठांतर देखने में आया है, जिसका अर्थ है सूर्यरहित, याने दर्शनरहित। दूसरे चरण में, जैसा कि कहा है—*'अंधेन तमसावृत'*।

(४७) आत्मा की देह से भिन्नता यदि ध्यान में ले ली जाय तो अज्ञानी जीव की मरणोत्तरगति के विषय में प्रश्न अवश्य खड़ा होगा। वह जड़ सृष्टि में लीन नहीं हो सकता, क्योंकि वह चेतन है। वह ईश्वर में नहीं मिल सकता, क्योंकि उसे अभी आत्मज्ञान नहीं हुआ है। अर्थात् उसका अपने विशिष्ट अहंकार के साथ सृष्टि और ईश्वर इन दोनों से भिन्न रूप में रहना अनिवार्य है।

(४८) 'आसुरी योनि'। इसे गीता में मूढ़योनि कहा है।

मूढ़योनि, याने यहां की भाषा में अँधेरे से घिरी योनि, अर्थात् पशु आदि योनि समझना चाहिए। यह पाप के कारण मिलती है, इस कल्पना के आधार पर इसे 'पाप-योनि' भी कहते हैं।

(४९) योनि के अर्थ में यहां 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका मूल अर्थ 'आलोक' याने प्रकाश है। 'लोचन' और अंग्रेजी का 'लुक' ये शब्द उसीसे आये हैं। कितने भी अँधेरे से घिरी हुई योनि हो, उसमें कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य होता है।

(५०) आत्यन्तिक विनाश किसीका भी नहीं हो सकता। आसुरी योनि से उद्धार हो सकता है, यह शास्त्र ने माना है। वहां भी कितना ही अल्प क्यों न हो, 'आलोक' अवश्य है। उसके आधार पर पश्चात्ताप और ईश्वर के लिए पुकार की संभावना होती है। पर मनुष्य-जन्म गवाँ देने के बाद यह एक बड़ा दीर्घ कार्य-क्रम बन जाता है, बस इतना ही कहने का आशय है। "आसुरी योनि पाये हुए अधिकाधिक अधोगति को प्राप्त होते हैं।" पर वे '*मां अप्राप्य एव*' याने 'मेरी ओर मुड़े नहीं तभी तक' ऐसा गीता में बतलाया है (गीता १६।२०)। यह सारा अर्थ '*अभिगच्छन्ति*' शब्द में भरा हुआ है। 'अभिगच्छन्ति' अर्थात् 'अभिमुखाः गच्छन्ति', 'मुड़ते' हैं। यह सूचित किया है कि जो पतन की ओर मुड़े वे उत्थान की ओर भी अवश्य मुड़ सकते हैं।

(५१) चौथे चरण का पर्याय '*अविद्वांसो ऽबुधो जनाः*' (बृ० ४।४।११), इस तरह बृहदारण्यक ने दिया है। वह '*आत्महनः*' का भाष्य है। 'अविद्वस्' और 'अबुध्' इन दो विशेषणों से क्रमशः पहले और दूसरे मन्त्रों में आई शिक्षा को न पहचानना सूचित किया है।

(५२) इस मन्त्र में आये हुए विचार का विस्तार गीता ने १६ वें अध्याय के असुर-चरित्र में किया है।

(४३) तीन मन्त्रों के इस पहले त्रिक में जीवन-दर्शन संपूर्ण हुआ है। पहले मन्त्र में ईश्वर-निष्ठा, दूसरे में तदनुसारिणी कर्म-योगनिष्ठा और तीसरे में उभयनिष्ठा-शून्य आत्मघातकी आसुरी वृत्ति इस तरह यह त्रिविध जगत् है।

: ४ :

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

अर्थः—वह आत्मतत्त्व एक ही एक, बिल्कुल चलन-वलन न करने वाला किन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है। देव उसे पकड़ नहीं सकते। उसने अलबत्ते देवों को, कभी से पकड़ रखा है। दौड़ने वाले दूसरों को वह खड़ा रह के पीछे डालता है। प्रकृति माता की गोद में, खेलने वाला प्राण, उसीकी सत्ता पर, हलचल करता रहता है।

(४४) तीसरे मन्त्र में उल्लिखित आत्म-तत्त्व का या पहले मन्त्र में आये हुए ईश-तत्त्व का यह वर्णन है। ईश और आत्मा इनमें तत्त्वतः भेद नहीं है (मन्त्र १६)। इस मंत्र में नपुंसकलिंगी प्रयोग हुआ है। यह इसी 'तत्त्व' को लक्ष्य करता है। अन्यथा ईश और आत्मा दोनों ही पुल्लिङ्गी शब्द हैं। यह तत्त्व वही है, जिसे ब्रह्म कहते हैं (देखो टिप्पणी २०२)। ब्रह्म सहज ही नपुंसकलिंग है।

(४५) आत्मतत्त्व का यह वर्णन, परस्पर-विरोधी विशेषणों से भरा हुआ, साधारण तर्कशास्त्र की दृष्टि से अड़चन का हो सकता है। सामान्य तर्कशास्त्र स्थिति और गति का एकत्र होना असंभव मानता है। पर वेदान्त का विशेष तर्क है कि इस तरह

परस्पर-विरोधी द्वंद्व अच्छी तरह एकत्र रह सकते हैं। इस विशेष तर्क का शास्त्रीय नाम है 'वितर्क'। अंग्रेजी में इसे 'डायलेक्टिक्स' कहते हैं। योगशास्त्र कहता है कि इस तरह वैतर्किक विचार-प्रणाली से जगत् के विषय में ज्ञान को स्थिर रखकर आत्मा में जो लीन हो सकता है वह 'संप्रज्ञात' समाधि प्राप्त कर लेता है (योगसूत्र १।१७)। दिखाई देगा, कि इसी वितर्क-प्रणाली का अवलंबन लेकर ईशोपनिषद् ने त्याग, भोग आदि अनेक द्वंद्वों को हजम कर लिया है। पर यह वितर्क-प्रणाली सामान्य तर्क-शास्त्री के गले कैसे उतरे ? तर्कशास्त्री के चौखटे में वह कैसे बैठे ? इसके लिए आगे वितर्कवाद की युक्ति विचारकों ने खोज निकाली है। (कुविचार के अर्थ में जो एक वितर्क शब्द रूढ़ है उससे इस शास्त्रीय वितर्क का भ्रम न किया जाय।)

(५६) '*मनसो जवीयः*' मन का जव या वेग प्रसिद्ध ही है। तीनों काल, दसों दिशाएँ, अंतर् बाह्य सृष्टि, असृष्टि और प्रति-सृष्टि इतनी विशाल उसकी उड़ान हैं। मन की गति की मिति ही नहीं। पर ऐसे अनंत मन जिसके एक कोने में विलीन हो जाते हों, उसके महान् वेग का वर्णन किन शब्दों में किया जाये ?

(५७) यहां '*देव*' शब्द से '*शरीर*' के प्रकाशद्वार-ज्ञानेन्द्रियाँ-समझना है। वास्तव में देव याने ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियाँ हैं। ब्रह्माण्ड का ही पिण्ड प्रतिबिम्ब होने के कारण ये शक्तियाँ इन्द्रियों आदि के रूप में पिण्ड में उतरती हैं। इन्द्रिय शब्द का अर्थ भी इन्द्र-शक्ति ही है। इन्द्र याने 'इदं-द्रष्टा' (ऐ० १। ३। १४)। ब्रह्माण्ड में परमात्मा, पिण्ड में अंतरात्मा। उसकी दर्शन-शक्तियाँ हैं इन्द्रियाँ।

(५८) "पूर्वं अर्षत् इति 'पुरुषः' " ऐसी यह पुरुष शब्द की एक निरुक्ति ही यहां सूचित की है। [पुरुष शब्द की अन्य निरुक्तियों के लिए देखो टिप्पणी १६६]। [वैसे ही 'अर्षत्' के

अर्थ के लिए देखो टिप्पणी १५८]।

(५९) "*तद् धावतो अन्यान् अत्येति तिष्ठत्*" दौड़ने वाले सब आकाश में दौड़ते हैं। आकाश कहाँ दौड़े? उसे 'तिष्ठत्' ही (खड़ा ही) रहना होगा। परन्तु यह तो आकाश का भी अन्तर्यामी है: "*आकाशे तिष्ठन् आकाशं अंतरः यमयति*" (बृ० ३।७।१२)। उसको 'तिष्ठन्मूर्ति' ही कहना चाहिए। इसीलिए भक्त उसका वर्णन करते हैं, "युगें अठ्ठावीस विटे वरी उभा"— अठ्ठाईस युग बीते हैं, यह भगवान् ईंट पर खड़ा है—उसके खड़े रहने में ही अपार प्रेरणा भरी हुई है। गीता जो 'अकर्म में कर्म' कहती है वह यही है।

(६०) '*अपः*'। (१) अप् शब्द का बहुवचन; अर्थ—जल-प्रवाह। (२) 'अपस' शब्द का एकवचन; अर्थ—कर्म (लैटिन 'ओपस्')।

तो यहां कौनसा अर्थ लें? वास्तव में ये दोनों शब्द 'अप्' इस गतिवाचक प्राचीन धातु के रूप हैं। इसलिए यहां वेद के स्वरों का अनुसरण करके 'अपः' यह बहुवचन मानकर उसका अर्थ दोनों कल्पनाओं के योग से 'कर्म-प्रवाह' समझना चाहिए। '*अपो दधाति*' याने कर्म-प्रवाह का निर्माण करता है; अर्थात् आंदोलन करता रहता है।

(६१) '*मातरिश्वा*'। सर्वत्र गति-संचार करने वाला प्राण-तत्त्व प्रकृति के अंतर्गत होते हुए वही समस्त प्राणियों की तथा सूर्य चन्द्र आदि की भी गति का कारण माना गया है। वही 'तस्मिन् सति' याने आत्मा की सत्ता के बल पर काम करता है। आत्मा की सत्ता के बिना वह निर्बल सिद्ध होता है।

(६२) प्रकृति को यहां माता कहा गया है। अर्थात् पुरुष को पिता कहा जायेगा (गीता १४।४)। इस उपमा को आगे कल्पना-कुशल कवियों ने यहां तक लम्बाया कि नारी में

प्रकृति-तत्त्व का अंश अधिक और नर में पुरुष-तत्त्व का अंश अधिक, इस मान्यता तक विचारकों ने दौड़ लगा डाली। रूपकों से कहाँ तक अनर्थ हो सकता है, इसका यह एक उदाहरण है।

(६३) इस मन्त्र के चार चरणों में क्रमशः मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और प्राण के साथ तुलना कर आत्मा की शक्ति को दर्शाया है।

(६४) वास्तव में, इन्द्रियों आदि से आत्मा की तुलना हो नहीं सकती। यही यहां की तुलना का तात्पर्य है। केनोपनिषद् के प्रथम खंड में इसका विस्तार के साथ विवेचन आया है।

(६५) इस जगत् में समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ आत्मा के आधार पर चलती हैं। आत्मसत्ता से पृथक् यहां दूसरी सत्ता नहीं है, यह पहचान कर पहले मन्त्र की शिक्षा के अनुसार मानव को अहंता का और ममता का निरास करना है। सर्वत्र हम भगवान् का अधिष्ठान देखना सीखें—"भगवन्ता चें अधिष्ठान पाहिजे," यह समर्थ रामदास की सूक्ति प्रसिद्ध है।

: ५ :

तदेजति तन्नैजति
तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य
तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

अर्थ—वह हल-चल करता है और वह हल-चल करता नहीं। वह दूर है और वह पास है। वह इन सब के भीतर और वह इन सबके बाहर है।

(६६) इसमें आत्मा की व्याप्ति को दर्शाया है। पहला चरण "वह हलचल करता है और वह हलचल नहीं करता" यों शक्ति-

दर्शक दिखाई देने पर भी उसका अर्थ "स्थिर और चर दोनों वही है" इस तरह व्याप्तिसूचक है। गीता के नीचे दिये समानार्थक श्लोक से यह ध्यान में आ जाता है—

बहिर् अन्तश् च भूतानां अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।
(गीता—१३। १५)

(६७) दूर और निकट इन शब्दों से काल और अवकाश दोनों समझ लेने चाहिएँ। सभी भाषाओं में ये शब्द काल और अवकाश दोनों के ही बोधक हैं। दोनो अ-परिमेय हैं। पर दोनों आत्मा की व्याप्ति में विलीन हो जाते हैं।

(६८) अंदर का देखने वाला और बाहर का दृश्य, दोनों रूपों में परमात्मा ही सजा हुआ है। "भीतर हरि बाहर हरि। हरि ने घर में रूंध दिया" ऐसी है यह अवस्था।

(६९) जब हम कहते हैं कि 'भीतर-बाहर, पास-दूर, चर-अचर रूप से परमात्मा ही भरा हुआ है', तब 'यह मेरा यह पराया, यह अंतरंग, यह बहिरंग', आदि भेदों के लिए अवकाश ही नहीं रहता। इसीको अगले मन्त्र में स्पष्ट किया है।

(७०) मन्त्र ४–५ मिलाकर हम ईश्वर की (१) एकता, (२) निष्कंपता, (३) वेगवत्ता, (४) सर्वाधारता, (५) चराचरमयता, (६) दिक्-काल-व्यापिता, (७) द्रष्टृ-दृश्य-स्वरूपता का ध्यान करें, गान करें, अनुभव करें।

: ६ :

यस्तु सर्वाणि भूतानि
आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विजुगुप्सते॥

अर्थ—जो निरन्तर आत्मा में ही समस्त भूत और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है, वह फिर किसीसे ऊबता नहीं।

(७१) इसका समानार्थक—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥गीता ६।२९॥

(७२) विचार की दृष्टि से "आत्मा में समस्त भूत (चराचर वस्तु)" यह 'संश्लेषण', तथा 'समस्त भूतों में आत्मा' यह 'विश्लेषण' है (गीता—१३।३०)।

(७३) उपासना की दृष्टि से 'आत्मा में सब भूत' यह 'विसर्जन' और 'सब भूतों में आत्मा' यह 'आवाहन' है। पहले आवाहन उसके बाद विसर्जन यह उपासना की पद्धति है। आवाहन अर्थात् सृष्टि-शास्त्र की भाषा में उत्पत्ति; विसर्जन अर्थात् प्रलय।

(७४) आचार की दृष्टि से 'आत्मा में सब भूत' कहने से विशुद्ध 'आत्मार्थ' निष्पन्न होता है; 'सब भूतों में आत्मा' कहने से व्यापक 'परार्थ'। दोनों ओर से हीन और संकुचित स्वार्थ का उच्छेद हो जाता है। और उससे आत्मौपम्य का जन्म होता है (गीता —६।३२)।

(७५) *'सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव'*—यह 'एव' कार क्या करता है? यह विश्लेषण से संश्लेषण का, आवाहन से विसर्जन का, परार्थ से आत्मार्थ का आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्व सूचित करता है। पहले तीन का दूसरे तीन में पर्यवसान करना चाहिए।

(७६) *'आत्मन्'* शब्द की व्युत्पत्ति चार प्रकार से दी जाती है। एक श्लोक में इसका इस प्रकार संग्रह किया गया है—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस् तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

'आप्' व्याप्तौ, 'आ+दा' आदाने, 'अद्' भक्षणे, 'अत्' सातत्य-गमने—इस तरह ये चार व्युत्पत्तियाँ हैं। मुझे ये सारी ही काल्पनिक लगती हैं। इनमें से अंतिम व्युत्पत्ति वास्तविकता के कुछ निकट कही जा सकती है। वास्तव में, मेरे मत से आत्मा शब्द 'आत्' धातु का रूप है। 'आत्' पूर्ववैदिक धातु है। इसका संस्कृत में लोप हो गया है। पर ज्ञानेश्वरी की मराठी में ज्यों-का-त्यों और तमिल आदि द्रविड़ भाषाओं में यह धातु अपभ्रंश रूप में प्रकट हुआ है। 'आत्' का भूत-कृदन्त ज्ञानेश्वरी की भाषा में 'आतला' होता है। 'आत्' का अर्थ मूलतः 'अस्' और 'भू' के बीच का है। यद्यपि इस अर्थ-भेद का आगे लोप हो गया है, तो भी विचार-दृष्टि से वह महत्त्व का है। 'अस्' याने 'केवल होना',—निर्गुण। 'भू' याने 'विविध भावयुक्त होना'—सगुण। 'आत्' याने 'हो सकने वाला होना'—बीच की स्थिति, सगुण-गर्भ निर्गुण। 'आत्मन्' का साथी 'भूमन्' एक परमात्मवाचक शब्द उपनिषदों में आता है। दोनों का स्थूल रूप से एक ही अर्थ है। बारीकी से देखें तो 'भूमन्' विशेषेण सगुण है। भूमन 'भू' धातु से आया है। इसे ध्यान में रखने से यह सूक्ष्म भेद स्पष्ट हो जाता है। 'भूमन्' शब्द की व्युत्पत्ति 'बहु+इमन्' इस तरह पाणिनि ने बताई है। इसका कारण यह पूर्ववैदिक धातु 'आत्' पाणिनि को, संभव है, ज्ञात न हो। ज्ञात होता तो उन्हें आत्+मन=आत्मन्, तथैव भू+मन्=भूमन्, यह सूझता। इसके अभाव में उन्हें 'अणिमन्', 'गरिमन्' आदि वर्ग में भूमन् को बिठाने की व्यवस्था करनी पड़ी है। संभवतः उपनिषदों में भूमन् शब्द जहां आया है वहां वह अल्प के विरोधी के रूप में उपस्थित किया गया है और इसी कारण पाणिनि को ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। परंतु 'भूमन' 'भू' धातु से लगाने से, विश्वरूप परमात्मा का

वाचक होता है। फिर विश्वरूप में बहुत्व आ ही जाता है। किंबहुना, बहु शब्द मूल में 'भू' धातु का ही रूप है। इसकी ओर ध्यान देने पर तनिक भी कठिनाई नहीं रहती। परन्तु ब्रह्मन् निर्गुण, आत्मन् सगुण-निर्गुण, भूमन् सगुण इस तरह का भेद विश्लेषण के लिए किया जाय, तो भी अंत में उस सब को भुलाकर '*ईशावास्यं इदं सर्वं*' इतना ही रटना है और वही इसके आगे के मन्त्र का और सारे ईशावास्य उपनिषद् का सार है।

(७७) 'न विजुगुप्सते' याने ऊबता नहीं। ऊब शब्द से निंदा, तिरस्कार, घृणा आदि स्थूल वृत्तियाँ तो समझनी ही हैं, पर सूक्ष्मतम दूरीभाव अथवा अंतराय का भी उसमें समावेश होता है। 'जुगुप्सते' 'गुप्' धातु का इच्छार्थक है। उसका अक्षरशः अर्थ होता है स्वयं को अलग रखने की, छिपाने की वृत्ति।

(७८) '*ततो न विजुगुप्सते*' की जगह '*ततो न विचिकित्सति*' भी एक पाठान्तर है, जिसका अर्थ है—'उसे फिर किसी तरह का संशय नहीं रहता'।

(७९) '*ततो न विजुगुप्सते*'। सब भूतों में मैं और मुझमें सब भूत इतना विशालतम मातृ-हृदय जिसे मिला है वह कैसे ऊब सकता है? इसलिए भक्त का एक लक्षण है—'*यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः*' [गीता १२।१५]।

: ७ :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थ—जिसकी दृष्टि से आत्मा ही सर्वभूत हो रहा, उस निरन्तर

एकत्व देखने वाले, विज्ञानी पुरुष को, मोह कहाँ और शोक कहाँ ?

(८०) पिछले मन्त्र में जैसा सूचित किया है उसके अनुसार मातृ-हृदय यद्यपि ऊबता नहीं है, तथापि उसे मोह हो सकता है। ऐसी शंका की कल्पना कर उसके निरसन के लिए यह मन्त्र है।

(८१) पिछला मन्त्र भक्ति-प्रेमपरक है। अतः उसमें ओतप्रोतता की भाषा का प्रयोग हुआ है। यह मन्त्र ज्ञानपरक है। इसके अनुसार यहां केवल एकता की भाषा प्रयुक्त हुई है। वास्तव में, दोनों एक ही हैं। ओतप्रोतता जहां संकुचित होती है—जैसे मां की चार बच्चों जितनी—वहां मोह हो सकता है। परन्तु विश्वव्यापी ओतप्रोतता में यह दोष नहीं आता। इसलिए पिछला मन्त्र भी निर्भय है। और यह तो है ही। व्यापकतम ओतप्रोतता का ही नाम निर्द्वंद्व एकता है।

(८२) '*आत्मा एव सर्वाणि भूतानि* ' और पहले मन्त्र का '*ईशावास्यं इदं सर्वं*' एक ही है। एक आत्मज्ञान की भाषा है, दूसरी भक्ति की, इतना ही अंतर है।

(८३) '*विजानतः*'। ज्ञान अर्थात् बुद्धि से जानना। विज्ञान अर्थात् जीवन में अनुभव करना। ज्ञान के अनन्तर उस ज्ञान को आचरण से, कृति से, आत्मसात् कर लेने पर उसीका विज्ञान होता है। ज्ञाता+कर्ता=विज्ञाता। टिप्पणी (२) में इसका विवरण किया गया है।

(८४) '*अनुपश्यतः*'। पिछले और इस मन्त्र में भी केवल दर्शन से संतोष न मानकर अनुदर्शन की अपेक्षा की है। अनु-दर्शन अर्थात् सतत दर्शन। एक विशेष पवित्र क्षण में बिजली चमकने की भाँति 'प्रातिभ' दर्शन हो जाय तो भी वह काफी नहीं है। वह तो एक आश्वासनमात्र है। सूर्य-प्रकाश के समान निरंतर दर्शन चाहिए। तभी संसार-क्षय होगा।

ज्ञाने न तु तदज्ञानं येषां नाशितं आत्मनः।
तेषां आदित्यवज् ज्ञानं प्रकाशति तत् परम् ।।गीता ५।१६।।

(८५) एकता का सतत दर्शन, अनेकता को पचाकर ही हो सकता है। एकता का अनेकता के साथ विरोध बना रहा तो समाधि और व्युत्थान की बला से पीछा छूटने वाला नहीं।

(८६) शोक और मोह सगे सहोदर हैं। संकुचित आत्मीयता से मोह पैदा होता है। वह देह-वियोग आदि अवसरों पर शोक का हेतु बनता है। व्यापक आत्मीयता में यह संभव नहीं। क्योंकि व्यापक आत्मीयता देह को किनारे रखकर ही होती है। आगे के मन्त्र में यही स्पष्ट किया गया है।

(८७) ईशावास्य के साथ गीता का घनिष्ठ संबंध है। यहां के शोक और मोह ये शब्द तो गीता की आख्यायिका का भी स्मरण दिलाते हैं।

: ८ :

स पर्यगाच् छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच् छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

अर्थ—वह उस तेजस्वी, देहरहित, अतएव व्रणादि देह-दोषों से और स्नायु आदि देह-गुणों से सर्वथा अलिप्त, शुद्ध और पाप-वेधमुक्त, ऐसे आत्मतत्त्व को चारों ओर से घेरकर बैठ गया। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी, वशी, व्यापक और स्वतन्त्र हो गया। उसने शाश्वतकाल तक टिकने वाले, सर्व अर्थ यथावत् साध लिये।

(८८) इसे आत्मा का वर्णन न समझकर आत्मज्ञ का समझने से मन्त्र सरल हो जाता है। 'सः' कर्ता, 'शुक्रं' कर्म,

'पर्यगात्' क्रियापद। इसके अलावा पिछले दो मन्त्रों में आत्मज्ञ का वर्णन होने के कारण उसके साथ इसकी एकवाक्यता होती है।

(८६) *'अ-पापविद्धम्'* इन्द्रियों आदि पर पाप का वेध चल सकता है। आत्मा पर नहीं चलता। इसका विवरण बृहदारण्यक की एक आख्यायिका में किया गया है (बृहदारण्यक १।३, मंत्र २।७)। बृहदारण्यक उपनिषद् ईशावास्य का एक भाष्य ही है।

(६०) *'शुक्रं अकायम्'* आदि शब्दों से क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ का स्वरूप प्रदर्शित किया है। म्यान से तलवार खींचने की तरह देह में आवेष्टित आत्मतत्त्व को सूक्ष्म बुद्धि और धैर्य से खींच लेने पर उसका अमर तेज प्रकट होता है (कठ० ६।१७)।

(६१) आत्मज्ञ पुरुष को यहां कवि की अन्वर्थ संज्ञा दी है। कवि याने क्रांतदर्शी—निरुक्त कहता है। क्रांतदर्शी अर्थात् पारदर्शी, देह का परदा हटाकर उस पार जो देख सकता है। ऐसे पारदर्शी कवियों में आत्मज्ञानी सिरमौर है। *'पदवीः कवीनाम्'* (ऋग्वेद)।

(६२) आत्मज्ञ पुरुष के वर्णन में प्रतिभावान् कवि के भी लक्षण यहां प्रसंगवशतः, पर सम्यक् रूप से दर्शाए हैं।*

(६३) *मनसः ईष्टे इति 'मनीषी'*—मनीषी वह, जो मन पर सत्ता चला सकता है, मन पर आवश्यकतानुसार नियंत्रण रख सकता है, उसे आवश्यकतानुसार काम में लगा सकता है। ईशावास्य ईश्वर की उपासना सिखाने वाला उपनिषद् है। ईश्वर के उपासक को कम-से-कम अपने क्षेत्र में ईश्वर ही बनना चाहिए।

---

* जिज्ञासु (विनोबा के विचार में) 'कवि के गुण' नाम वाला लेख देखें।

इस मन्त्र में सुझाये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक का भी यही परिणाम अपेक्षित है।

(६४) कवि और मनीषी परस्पर-पूरक विशेषण हैं। दर्शन-शक्ति और निरोधशक्ति दोनों का योग चाहिए। उसी की प्रक्रिया को अगले दो त्रिकों में (मंत्र ६ से १४) प्रतिपादित किया है। गीता ने उसके लिए बुद्धि और धृति को मिलाकर एक संयुक्त साधन की कल्पना की है। एक पतवार, दूसरा डांडा दोनों मिलाकर तरने का साधन प्रस्तुत होता है (देखो टिप्पणी १२६)।

(६५) परि+भूः का 'सर्वोपरि' या 'सर्वातिक्रमकारी' अर्थ किया गया है। परन्तु यह अर्थ लौकिक संस्कृत में होता है। वैदिक संस्कृत के अनुसार 'परिभूः' याने चारों ओर से लपेट कर बैठा हुआ, व्यापक—ऐसा अर्थ होता है।

(६६) परिभू और स्वयंभू परस्पर-पूरक विशेषण हैं। ब्रह्म-सूत्र की भाषा में 'सर्वापेक्षा' और 'अनपेक्षा' अर्थात् सर्वसंग्राहक बुद्धि और अन्य-निरपेक्ष स्वतन्त्रवृत्ति दोनों का योग होना चाहिए। एक आत्मा की व्यापकता में से और दूसरी आत्मा की स्वयंपूर्णता में से निष्पन्न होती है।

(६७) 'याथातथ्यतः' शब्द, विवरण-स्वरूप दिखाई देता है। उसे छोड़ देने से छंद ठीक हो जाएगा। (फिर अनुवाद में से 'यथावत्' शब्द निकाल देना होगा) और अन्त के दो चरणों को इस तरह पढ़ना होगा—

कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूर्।
अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(६८) "*अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।*" व्यदधात् याने साध लिया, सम्पादन किया, सम्पादन कर चुका। आत्मज्ञ पुरुष को कुछ भी सम्पादन करना शेष नहीं रहता, शाश्वत काल

के लिए पर्याप्त सामग्री उसने जुटा रखी है, यह अर्थ होगा। 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' । गीता (३।२२)

(९९) देहातीत होकर जिसने शाश्वत अर्थ—परमार्थ—साध लिया उसमें अर्थ-लोभ कहाँ से होगा ? इसलिए 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्' यह आज्ञा यहां सहज ही फलित और उन्मूलित हुई। अर्थात् कृतार्थ होकर कुण्ठित हो गई।

(१००) मन्त्र ६—८ के त्रिक में आत्मज्ञ पुरुष का गुण-चरित्र इस तरह वर्णन किया गया है—

(१) ओतप्रोत विश्वप्रेम
(२) किसी व्यक्ति से भी और किसी वस्तु से भी अरुचि नहीं, उद्वेग नहीं
(३) विश्वात्मैक्य-दर्शन
(४) मोह नहीं, शोक नहीं
(५) विदेह-स्थिति
(६) पारदर्शिता, वशिता, व्यापकता, स्वतन्त्रता
(७) शाश्वत अर्थ-लाभ

(१०१) यदि देह को फाड़कर आत्मा को बाहर खींच निकालना है तो उसके लिए साधन तीक्ष्ण व सूक्ष्म चाहिए।*

: ९ :

अंधं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

अर्थ—जो अविद्या में डूब गये, वे घोर अन्धकार में चले गये। जो विद्या में रम गये, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में चले गये।

---

* उसकी प्रक्रिया का अगले छह मंत्रों में उपदेश किया है।

(१०२) अविद्या और विद्या ये दोनों एक ही वस्तु के निवृत्त (निगेटिव) और प्रवृत्त (पॉझिटिव) अंग हैं। उसके अनुसार उनके फल भी ग्यारहवें मन्त्र में निवृत्त और प्रवृत्त स्वरूप के दिखाये गये हैं। अविद्या याने इष्ट अर्थ में अनधिकृत अनंत ज्ञान प्राप्त न करना। विद्या याने इष्ट अर्थ में अधिकृत विशिष्ट ज्ञान लाभ करना। इन अर्थों में ये शब्द ईशावास्य के पारिभाषिक हैं। (इसके अलावा टिप्पणी १३३ देखो।)

(१०३) अविद्या से अपेक्षित लाभ : (१) बुद्धि पर भार न होना, (२) प्राणशक्ति-संचय। (३) नम्रता। विद्या से अपेक्षित लाभ बौद्धिक दिशा-दर्शन। विद्या और अविद्या बिना एक-दूसरी की सहायता के अकिंचित्कर हैं।

(१०४) विद्याहीन अविद्या और अविद्याहीन विद्या केवल अकिंचित्कर ही नहीं, बल्कि अनर्थकारी भी सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए एक अकेली का आश्रय लेना अँधेरा कहा गया है।

(१०५) पर इनमें कौन-सा अँधेरा घोरतर है यह कहना कठिन ही है। 'भूय इव' के 'इव' शब्द से यह सूचित है। फिर भी केवल अविद्या एक बार चल जाएगी, पर केवल विद्या न हो—ऐसा मानो यहां कहा है। क्योंकि विद्याहीन अविद्या में से अगर ज्ञान-शून्य जड़ता पैदा होती है, तो (दूसरी ओर) अविद्याहीन विद्या में से प्राणहीनता और अहंकार भी पैदा हो सकता है। यह परिणाम अधिक भयंकर बताने जैसा लगा।

(१०६) केवल अविद्या में एक प्रकार की लयवृत्ति होती है। उस अर्थ का सूचक यहां का 'उपासते' शब्द है। इसकी नींद के साथ तुलना की जा सकती है। इसके विपरीत, केवल विद्या में विविध आनन्द भोगने की वृत्ति होती है। उस अर्थ का सूचक 'रताः' शब्द है। उसकी जागृति के साथ तुलना की जा

सकती है। उभय-दोष-रहित और उभय-गुण-सम्पन्न आत्म-निष्ठा अभीष्ट है। यही न्याय मन्त्र १२ के निरोध और विकास पर लागू होता है।

: १० :

अन्यदेवाहुर् विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे॥

अर्थ—आत्मतत्त्व को विद्या से भिन्न ही कहा है और अविद्या से भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

(१०७) 'विद्यया' और 'अविद्यया' इनकी तृतीया विभक्ति पंचमी के अर्थ में है। यह मन्त्र १३ से ध्यान में आ जायगा। इस प्रकार तृतीया पंचमी के अर्थ में हो सकती है। वेदों में इस तरह उसका अनेक बार प्रयोग आता है। इसके अलावा इसी जगह यजुर्वेद के माध्यंदिन पाठ में 'विद्यायाः' और 'अविद्यायाः' ऐसे सीधे ही पाठ आये हैं। उन्हें छन्द के सुभीते के लिए उपनिषद् ने बदल भर दिया है।

(१०८) "*विद्याविद्ये ईशते यस् तु सोऽन्यः*" (श्वेताश्वतर ५।१) 'विद्या और अविद्या इन दोनों का चालक दोनों से ही न्यारा है।' इस वाक्य से प्रस्तुत मन्त्र की वाक्य-रचना पर प्रकाश पड़ता है।

(१०९) यहां और अगले तेरहवें मन्त्र में आत्मतत्त्व को—ब्रह्म को—'तत्' कहा है। 'तत् त्वं असि' महावाक्य का प्रथम पद यही है। 'तत्' याने 'परली वस्तु', जो सभी द्वंद्वों के परे है। उसीको जानना है। उसीको प्राप्त करना है। उसीमें 'त्वं' का लय करना है।

(११०) आत्म-तत्त्व को विद्या और अविद्या दोनों के ही परे

कहा है। क्योंकि वह मेरा स्वरूप ही है। मुझे ही मैं जानूं कैसे, और न जानूं कैसे ?

(१११) जानना और न जानना इन दोनों से आत्म-तत्त्व अथवा आत्मज्ञान निराली ही वस्तु है। इस मन्त्र का यह अर्थ, थोड़े शब्द-भेद से, केनोपनिषद् के नीचे के श्लोक में मिलता है:

अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस् तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन० १।३ ॥

(११२) *"अन्यद् एवाहुर् विद्यया।"* आत्मज्ञान अविद्या से भिन्न है, यह सहज ही ध्यान में आ जाता है। परन्तु विद्या के भी वह परे है, इसे विशेष रूप से जानना है। इसीके लिए 'एव'कार प्रयुक्त हुआ है।

: ११ :

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

अर्थ—विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ, जो उस आत्मतत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्मतत्त्व के सहारे, अविद्या से मृत्यु को पार करके, विद्या से अमृत को पाते हैं।

(११३) यहां ऐसा दिखता है कि विद्या और अविद्या के समुच्चय का उपदेश दिया गया है। पर वह एक भाषामात्र है। जहां दोनों साधन समर्थ होते हैं और उनके संयोग से एक विशेष निष्पत्ति होती है, वहां वह समुच्चय कहलाता है। पर यहां दोनों अलग-अलग असमर्थ ही नहीं अपितु अनर्थकारी हैं इसलिए वे एक ही साधन बन जाते हैं; उनका समुच्चय सिद्ध नहीं हो पाता।

(११४) विद्या और अविद्या दोनों को अलग-अलग दूषित ठहरा कर दोनों का योग चाहिए, यह तो यहाँ कहना है ही;

पर इसके अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु की ओर, आत्मज्ञान की ओर, ध्यान दिलाना है। उस तीसरी वस्तु के सहारे दोनों का योग सफल होता है।

(११५) आत्मज्ञान की ओर दृष्टि हो तो मनुष्य अविद्या के सहारे अनेक व्यर्थ ज्ञानों से बचकर अर्थात् अनात्म विषय से बुद्धि को हटाकर सहज ही 'आवृत्त-चक्षु' हो सकता है। इसका नाम है मृत्यु को तर जाना। और फिर विद्या के सहारे वह आत्म-चिंतन कर अक्षय-अमृत की निधि प्राप्त कर लेता है। विद्या और अविद्या को इस तरह आत्मज्ञान के अर्थ खपा लिया जाये तो वे दोनों उपकारक और साधनरूप बन जाती हैं।

(११६) मृत्यु को तर जाना और अमृत को प्राप्त करना ये दोनों एक ही फल के निवृत्त और प्रवृत्त अंग हैं। नदी को तर जाना और उस पार दूसरे किनारे के फलों को खाना यह है पूर्ण कार्यक्रम।

(११७) श्वेताश्वतर में एक वाक्य आया है—"*क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या। विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः*" ॥ (श्वेत० ५।१) दसवें मन्त्र की वाक्य-रचना स्पष्ट करने के लिए इस वाक्य का उत्तरार्ध पहले हमने देखा था (टिप्पणी १०८)। उसके पूर्वार्ध में अविद्या को 'क्षर' और विद्या को 'अमृत' कहा गया है। उसका अर्थ क्या समझा जाय? "अविद्या क्षर-फला और विद्या अमृत-फला" ऐसा उस वाक्य का अर्थ है। अविद्या नकाररूप होने के कारण उसका फल भी नकाररूप और इसलिए फिसलाने वाला (क्षर) होता है। अर्थात् उसपर भरोसा न रखते हुए भावरूप फल प्राप्त होने तक प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह संकेत उससे ग्रहण करना चाहिए।

(११८) इस मन्त्र का समानार्थक मनु का निम्नलिखित श्लोक कहा जाता है—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते ॥

वास्तव में इस श्लोक और प्रस्तुत मन्त्र में मेल नहीं है। मनु ने तप और विद्या इन दोनों को निःश्रेयसकर समर्थ साधन माना है, और यहां केवल अविद्या तथा केवल विद्या को गाढ़ अंधकार बतलाया गया है। इसलिए 'अविद्या' का अर्थ हम 'तप' नहीं ले सकते। इसके अतिरिक्त ऐसा अर्थ करना अविद्या शब्द की लक्षणा करने के जैसा होगा। श्रुत्यर्थ (वाच्यार्थ) जहां लागू होता है, वहां लक्षणा मानना उचित नहीं।

(११९) 'अविद्या' का एक अर्थ 'कर्म' भी किया जाता है। वह भी ठीक नहीं है। कर्म को गाढ़ अंधकार कहने की कल्पना ईशावास्य में नहीं है। उससे उलटी कल्पना है, यह मन्त्र २ और ३ एक साथ पढ़ने से ध्यान में आ सकता है। इसके अतिरिक्त अविद्या का अर्थ कर्म यथाश्रुत तो निश्चय ही नहीं है।

(१२०) ज्ञान-कर्म-समुच्चय के लोभ से यहां विद्या का अर्थ आत्मज्ञान भी किया गया है। कल्पना-शक्ति को कितना भी खींचा जाय, तो भी आत्मज्ञान को गाढ़ अंधकार—और वह भी मानो अविद्या से अधिक ही—कैसे कहा जा सकता है, यह ध्यान में नहीं आता। वास्तव में सीधा अन्वयार्थ तो यही बतलाता है कि आत्मज्ञान की सर्वोच्च महिमा व्यक्त करने के लिए ही ये मन्त्र हैं।

: १२ :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥

अर्थ—जो निरोध में डूब गये वे गाढ़ अन्धकार में पैठे। जो विकास में रम रहे, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में पैठे।

(१२१) इसके पहले के तीन श्लोकों में बुद्धि-शोधन हुआ। अब यहां से हृदय-शोधन किया जाता है।

(१२२) असद्-वृत्तियों का निरोध और सद्-वृत्तियों का विकास ये दोनों एक ही हृदय-शोधन के निवृत्त और प्रवृत्त अंग हैं और इसके अनुसार उनके फल भी निवृत्त और प्रवृत्त रूप में दिखाये गये हैं।

(१२३) यहां 'संभूति' और 'असंभूति' इन शब्दों के अर्थ के विषय में एकमति नहीं है और आगे भी होगी, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यहां के अर्थ-निश्चय के सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि उसे करते समय यथासंभव वैदिक साहित्य की गवाही ली गई है।

(१२४) विधायक विकास-दृष्टि के अभाव में केवल निरोधरूप निषेधक साधना खुद हमपर ही उलट पड़ती है। अशुभ वृत्तियों के निरोध का नाम लेते-लेते वे वृत्तियाँ ही दृढ़ होने लगती हैं। यह है निरोध के अन्दर का गाढ़ अंधकार। दूसरी ओर निरोध-शून्य केवल विकास की कल्पना से मानो इससे भी घोर अंधेरा पैदा होने की संभावना रहती है। गुण-विकास के नाम से मनुष्य अनजान में अनेक प्रकार के विषय-पाशों से जकड़ लिया जाता है। दोनों ओर के अंधकार का यह केवल एक नमूना दिखाया है। आत्मज्ञान-विहीन ऐकान्तिक बौद्धिक साधना की भाँति आत्मज्ञान-विहीन ऐकान्तिक हार्दिक साधना में भी कई प्रकार का अंधकार खूब भरा होता है। वह जिसका वही खोज ले ! उस सब से बचने के लिए आत्मज्ञान चाहिए।

: १३ :

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥

अर्थ—आत्मतत्त्व को विकास से भिन्न ही कहा है और निरोध से भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

(१२५) आत्म-तत्त्व को निरोध और विकास दोनों ही के परे कहा है। क्योंकि वह मेरा स्व-रूप ही है। मैं अपना ही विकास कैसे करूं, और निरोध कैसे करूं ?

(१२६) *'अन्यदेवाहुः संभवात्'*। आत्मज्ञान निरोध से भिन्न है, यह सहज ध्यान में आ सकता है। परन्तु विकास की परम सीमा ही आत्मज्ञान है, ऐसी कल्पना रूढ़ होने के कारण वह विकास के परे है, इसे हमें विशेष-रूप में जान लेना है। इसी-के लिए यहां 'एव'कार प्रयुक्त हुआ है।

(१२७) 'संभूति' और 'असंभूति' इन शब्दों के बदले 'संभव' और 'असंभव' केवल छंद के सुभीते के लिए आये हैं।

(१२८) दो प्रकार की बौद्धिक साधना से तथा दो प्रकार की हार्दिक साधना से भी आत्मज्ञान भिन्न वस्तु है—इसे उपनिषद् ही कह सकते हैं। पर उन्होंने भी पूर्वगुरुओं का हवाला दिया है। "बिनु गुरु होइ कि ज्ञान" यही इसका सार निकलता है।

(१२९) यहां और इसके पहले दसवें मन्त्र में, गुरुओं को लक्ष्य करके धीर शब्द का प्रयोग किया है। 'धी' शब्द से 'धीर' अर्थात् 'बुद्धिमान्' अर्थ होता है। और 'धृ' धातु से 'धीर' अर्थात् 'धृतिमान्' अर्थ होता है। इसके पहले बुद्धि-शोधन का प्रकरण होने के कारण वहां मुख्यतया पहला अर्थ और यहां हृदय-शोधन का प्रकरण होने के कारण मुख्यतया दूसरा अर्थ लक्ष्य है। दोनों मिलाकर पूर्ण धीरता होती है।

(१३०) *'इति शुश्रुम'*। श्रुति, स्मृति और कृति, यह है उपनि-

शब्दों की थोड़े में ज्ञान-प्रक्रिया। गुरु-मुख से श्रवण करना; उसका चिंतनपूर्वक बार-बार स्मरण करना; उसके अनुसार कृति करके उसे कसौटी पर कसना। पहले उपनिषद् शब्द की व्याख्या करते समय इस प्रक्रिया को हम देख ही चुके हैं।

(१३१) *'विचचक्षिरे'* अर्थात् "व्याख्यान करके बतलाया," "समझा दिया" ऐसा अर्थ किया जाता है। यह ठीक ही है। पर 'विचचक्षिरे' में 'चक्ष्' धातु है और उसका 'चक्षु' से सम्बन्ध है इसलिए 'दर्शन करा दिया' इतना उसका अर्थ अभिप्रेत है। शिष्य को ज्ञान का साक्षात्कार करा देना यह गुरु की करामात है। जबतक ज्ञान अनुभव में परिणत नहीं होता तबतक उसकी सफलता नहीं है।

: १४ :

संभूतिं च विनाशं च यस् तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥

अर्थ—विकास और निरोध, इन दोनों के साथ, जो उस आत्मतत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्मतत्त्व के सहारे, निरोध से मृत्यु को पार करके, विकास से अमृत को पाते हैं ।

(१३२) इस मन्त्र में 'असंभूति' शब्द के लिए 'विनाश' यह एक दूसरा पर्याय प्रयुक्त हुआ है। उसमें हेतु यह है—दोष-निवृत्ति के अथवा निरोध के दो भाग होते हैं: (१) नये दोष न चिपकने देना, (२) पुराने चिपके हुए दोषों को निकालकर फेंक देना। असंभूति शब्द अक्षरार्थ से मुख्यतया पहला भाग सूचित करता है। दूसरा भाग सूचित करने के लिए 'विनाश' शब्द आया है। योग-शास्त्र 'निरोध' शब्द में दोनों भागों का समावेश करता है।

(१३३) यहां का 'विनाश' शब्द अविद्या के भी दो भागों को सूचित करता है। (१) व्यर्थ बोझ-का-बोझ ज्ञान प्राप्त न करना और (२) पुराना प्राप्त किया भूल जाना।

(१३४) जब आत्मज्ञान की उत्कंठा होती है तब मनुष्य निरोध के बल से विषय-वशीकाररूप वैराग्य प्राप्त करता है। इतना होने के बाद यह कहा जा सकता है कि साधक मृत्यु को तर गया। आगे, विकास के बल से ओत-प्रोत विश्व-प्रेम का अभ्यास कर अक्षय अमृत की निधि को प्राप्त कर लेता है। निरोध और विकास को इस तरह आत्मज्ञान के हेतु खपा लेने से दोनों उपकारक तथा साधन-रूप हो जाते हैं।

(१३५) इसके पहले जैसा कि टिप्पणी १०६ में बताया गया है, यहां भी समुच्चय अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रेत है, दोनों दोषों से रहित तथा दोनों गुणों से संपन्न एक ही अव्यंग एवं परिपूर्ण साधना।

(१३६) माध्यंदिन पाठ में, मन्त्र १२ से १४ पहले दिये गये हैं, और मन्त्र ६ से ११ बाद में हैं। पहले बुद्धि-शोधन या हृदय-शोधन अथवा दोनों में अधिक महत्त्व का कौन-सा, यह वाद उठाना व्यर्थ है। यह तो साधक की मनोभूमिका पर निर्भर करता है। वास्तव में दोनों समान महत्त्व रखते हैं और प्रायः एक साथ ही साधन करने के हैं। फिर भी विवेचन का उपन्यास करते समय पहले बुद्धि-शोधन और बाद में हृदय-शोधन ऐसी रचना करना अधिक योग्य होगा। गीता ने भी सांख्य-बुद्धि की नींव पर ही आगे योग-बुद्धि की रचना की है।

(१३७) अंधकार के अभी तक तीन प्रकार सुझाए हैं। उनका एक स्थान पर संकलन करना ठीक होगा।

(१) क्रियागत अंधकार (मन्त्र ३)—

आत्मघातक आसुरी आचरण

(२) बुद्धिगत अंधकार (मन्त्र ६)—
(अ) केवल अविद्या, (आ) केवल विद्या
(३) हृदयगत अंधकार (मन्त्र १२)—
(अ) केवल निरोध, (आ) केवल विकास

इनमें से नैतिक अंधकार तो सर्वथा वर्ज्य है। बौद्धिक तथा हार्दिक अंधकार संशोध्य हैं। संशोधन करने पर वह साधनरूप हो सकता है।

(१३८) "पर यह संशोधन किसके द्वारा होगा ?" उत्तर— 'आत्मज्ञान के द्वारा'। किन्तु आत्मज्ञान के लिए ही तो यह संशोधन है ! साधन-शुद्धि से आत्मज्ञान और आत्मज्ञान से साधन-शुद्धि यह पहेली कैसे सुलझे ? इसके लिए अब प्रार्थना-तत्त्व का अर्थात् ईश्वर-भक्ति का आगे के मन्त्र में, आवाहन किया जाता है।

: १५ :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ॥

अर्थ—सुवर्णमय पात्र से, सत्य का मुंह ढँका हुआ है। हे विश्वपोषक प्रभो, मुझ सत्यधर्मउपासक के दर्शन के लिए, उसे तू खोल।

(१३९) आत्मा सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। सत्य-स्वरूप शिव-स्वरूप ही वह है। तब सभी को ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता ? उपनिषद् उत्तर देते हैं : "*त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः*" आत्मा की सत्यकामता अनृत से ढँकी हुई है (छां० ८।३।१)। उस ढक्कन को ही दूर करने के लिए यह प्रार्थना है।

(१४०) अनृत या असत्य अपने नंगे स्व-रूप में मनुष्य को प्रायः आकर्षण कर नहीं सकता। इसलिए वह अनेक 'रमणीय' भोगों का और प्रसंग-वश 'हित'-रूप लगने वाले कर्त्तव्यों का

भी रूप धारण किया करता है। यही हिरण्मय पात्र या सुनहरा ढँकना। हिरण्मय = हित+रमणीय।

(१४१) 'हिरण्मय पात्र' शब्द स्पष्ट ही लाक्षणिक है। फिर भी अक्षरार्थ से यह वित्त-मोह का सूचक है। वह अर्थ भी भुला नहीं देना है (देखो मन्त्र १)। वित्तमोह से सत्य-दर्शन का लोप होता है और मनुष्य प्रमाद में पड़ता है।

"प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्" (कठ २-६)

(१४२) वित्तमोह मनुष्य को क्यों होता है ? इसलिए कि वित्त से पोषण की अपेक्षा रहती है। परन्तु वस्तुतः पोषक तत्त्व न्यारा ही है। उसे सुझाने के लिए 'पूषन्' शब्द की योजना है।

(१४३) 'हिरण्मय पात्र'—गीता की भाषा में 'योगमाया'। ईश्वर को योगमाया ने घेर रखा है, इसलिए उसका दर्शन लुप्त हो गया है (गीता ७। २५)। उसकी माया का निराकरण उसी-के आश्रय से होगा (गी० ७। १४)। इसीलिए यह प्रार्थना।

(१४४) सत्य के ऊपर का सुनहरा ढक्कन दूर करने के लिए यहाँ विश्व-पोषक परमेश्वर की प्रार्थना की है। यह परमेश्वर सत्य से भिन्न और कौन ? सत्य से वह भिन्न नहीं है। वह सत्य ही है। सत्य का दर्शन प्राप्त करने के लिए सत्य ही की यह प्रार्थना की है। *"सत्यं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म"* (तै० २।१)।

(१४५) ईश्वर को सत्य कहें या सत्य को ईश्वर कहें ? दोनों एक ही हैं। एक तत्त्वज्ञान की भाषा है; दूसरी साधना की भाषा है।

(१४६) ईश्वर के गुण अनन्त हैं। साधक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार और आवश्यकता के अनुसार उसके विशिष्ट गुण-रूप मानते हैं। साधकों के इन सारी शाखाओं के स्थूल-रूप से दो वर्ग हो सकते हैं। एक तो निर्गुण शाखा,

जो ईश्वर को 'सत्य' या सत्य-पर्याय रूप संज्ञा से संबोधित करती है; और दूसरी सगुण शाखा, जिसे 'प्रेम' या प्रेम-पर्याय रूप संज्ञाएँ मधुर लगती हैं। दार्शनिक झुकाव के विचारक पहले वर्ग में आते हैं। उपासना-पंथों की गणना दूसरे वर्ग में होती है। उपनिषदों ने, स्वयं दार्शनिक झुकाव के होने के कारण, व्याख्या करते समय 'सत्यं ब्रह्म' इस तरह व्याख्या की है। पर उपासना के बिना दर्शन नहीं, यह भी उपनिषदों का सिद्धांत है; अतः उपासना के लिए हम 'प्रियं ब्रह्म' अर्थात् प्रेममय स्वरूप की उपासना करें, ऐसा भी उन्होंने बताया है (बृ० ४।१।३ तथा १।४।८)। तात्त्विक विचार करने पर सत्य शब्द ही अन्त में टिक सकता है। क्योंकि सत्य निर्विकार है। प्रेम विकार-युक्त और निर्विकार दोनों ही प्रकार का हो सकता है। पर इसीलिए विकारवान् मनुष्य को निर्विकारता की ओर ले जाने के लिए ईश्वर का प्रेममय-स्वरूप सेतु का काम देता है। और इसके अनुसार उसका उपयोग याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में सुझाया भी गया है। व्यापक दृष्टि से सत्य साध्य और प्रेम उसकी प्राप्ति का साधन—यह है इसका निचोड़।

(१४७) सत्यरूप परमेश्वर को 'पूषन्' याने विश्वपोषक कहा गया है, क्योंकि सत्य से पोषण और अनृत से शोषण हुआ करता है। *"समूलो वै एष परिशुष्यति, यो अनृतं अभिवदति"*। (प्रश्न ६।१)

(१४८) सत्य को 'पूषन्' अर्थात् विश्वपोषक की संज्ञा देकर प्रस्तुत मन्त्र ने सत्य और प्रेम के बीच का भेद ही मिटा दिया है। संपूर्ण समाज का प्रेमपूर्ण परिचर्या-वृत्ति से पोषण करने वाले शूद्र को उपनिषदों ने 'पूषन्' कहा है; और ऐसी प्रेमपूर्ण सेवा-वृत्ति की आदर्श-रूप भूमाता का उदाहरण देकर उसे भी 'पूषन्' संज्ञा दी है। "इयं वै पूषा। इयं हि इदं सब पूष्यति, यद्

इदं किं च" (बृ० १ । ४ । १३)। 'पूषन्' का अधिक विवरण अगले ही मन्त्र में आता है। सत्य और प्रेम का समन्वय करने की इस वृत्ति से ही मन्त्र ६ और ७ ये दो अलग-अलग मन्त्र कहने पड़े हैं, नहीं तो उनमें से किसी भी एक मन्त्र से काम चल सकता था।

(१४६) 'तत् त्वं अपावृणु' उस (ढक्कन) को तू दूर कर। या, उसे (सत्य के मुंह को) तू प्रगट कर। इन दोनों प्रकार से रचना हो सकती है। फलित एक ही है।

(१५०) सत्य-धर्म शब्द का, उसके पुराने स्वरूप में (सत्य-धर्मन्), ऋग्वेद में चार-पाँच बार उल्लेख आया है और सभी जगह वह 'बहुव्रीहि' है। इसलिए "सत्य की उपासना जिसका धर्म है वह" यों इसका अर्थ करना चाहिए।

(१५१) 'धारण करने वाला' इस अर्थ में धर्म शब्द जिस तरह नीतिधर्म का वाचक होता है, उसी तरह ईश्वर का भी वाचक होता है। "एष सर्वेश्वरः, एष सेतुर्विधरणः एषां लोकानां असंभेदाय"—यह सर्वेश्वर, लोक कहीं फूट न जायँ इसलिए उन्हें रोक रखने वाला यह बाँध है (बृ० ४।४।२२)। 'धर्म' शब्द के इन दोनों अर्थों—नीतिधर्म और ईश्वर—को ध्यान में रखकर 'सत्यधर्म' शब्द का दोहरा अर्थ समझना चाहिए।

(१५२) सत्य में सभी नीतिधर्मों का सार आ जाता है, क्यों कि सत्य ही नीतिधर्मों का आधार है। इसके अतिरिक्त वह स्वतंत्र धर्म भी है। वह प्रथम है। वह अंतिम है। परम है। पूर्ण है। सत्य के विरुद्ध जो भी खड़ा होगा वह सब सहज ही असत्य, निराधार, सिद्ध होगा। "यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्" (बृ० १।४।१४)।

(१५३) दर्शन के लिए सत्य आत्मा बनता है।
प्रार्थना के लिए सत्य ईश्वर बनता है।
आचरण के लिए सत्य धर्म बनता है।

(१५४) इस मन्त्र की प्रार्थना वैदिक-धर्म की सार्वभौम प्रार्थना है। उसीमें से हमें अगले तीन मन्त्रों की ध्यानत्रयी सम्पादन करनी है।

: १६ :

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत् ते रूपं कल्याण-तमं, तत् ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

अर्थ—तू इस विश्व का पोषक, और तू ही एक निरीक्षक है। तू नियमनकर्ता और तू उत्तम प्रवर्तन-कर्ता है। तू सबका प्रजावत् पालन-कर्ता है। तेरे ये पोषणादि रश्मि खोलकर और एकत्र करके दिखा। तेरा वह तेजस्वी और परम कल्याणमय रूप मैं अब देख रहा हूँ। वह जो परात्-पर पुरुष, सो मैं हूं।

(१५५) यहां सूर्य-प्रतीक में ईश्वर का ध्यान करना है। जो अंतर्यामी सूर्य का प्रेरक है, वही मेरी बुद्धि का प्रेरक है। 'सत्य' उसकी संज्ञा है। सूर्य और बुद्धि को सुनहरे ढक्कन समझें।

(१५६) मंत्र के पहले दो चरणों में प्रार्थना समाप्त हुई है। 'रश्मीन् व्यूह, रश्मीन् समूह' इस तरह प्रार्थना का दोहरा वाक्य है। उसके बाद भक्त की प्रार्थना सुनकर ईश्वर ने उसे दर्शन दिया है, यह हमें मान लेना है। तीसरे चरण में इस दर्शन का वर्णन है। 'तेजः' यह 'रूपं' के विशेषण जैसा—समानाधिकरण—है। चौथे चरण में दर्शन से प्राप्त हुई प्रतीति को दिखाया है।

(१५७) इस मन्त्र में परिपूर्ण ध्यान को सामने खड़ा कर दिया है। प्रार्थना, दर्शन, और प्रतीति मिलकर ध्यान पूर्ण होता है। जब तक दर्शन नहीं होता, तब तक दर्शन के स्थान पर भावना को

और प्रतीति के स्थान पर प्रीति को रखकर ध्यान की पूर्ति करनी होती है।

(१५८) 'एकर्षि': ऋष् अर्थात् निरीक्षण करना—इससे ऋषि शब्द बना है। इस तरह एकमात्र निरीक्षण करने वाला अंतर्यामी भगवान् है। इसलिए वह एकर्षि कहलाता है। निरीक्षण ईश्वरी सत्ता का एक महान् ही अंग है। यह निरीक्षण का अधिकार ईश्वर ही रखता है। पर शिष्य के लिए गुरु चूंकि ईश्वर-तुल्य है, इसलिए उसका भी यह अधिकार माना जा सकता है। अतः गुरु को भी यह 'एकर्षि' संज्ञा दी जा सकती है। उपासना के लिए ईश्वर को आकाशस्थ सूर्य की और गुरु को पृथ्वी पर के अग्नि की उपमा देकर एकर्षि याने सूर्य और अग्नि इस प्रकार भी अर्थ होते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में सूर्य की ओर ध्यान है। मुंडक, ३।२।१०, में अग्नि की ओर ध्यान है। संस्कृत में कुछ धातु एक ओर सूक्ष्म अर्थ में ज्ञानवाचक, तो दूसरी ओर स्थूल अर्थ में गतिवाचक होते हैं। इसके अनुसार 'ऋष्' अर्थात् जाना, यह भी अर्थ होता है। दोनों अर्थों को एकत्र कर उनका उपयोग चौथे मन्त्र के 'अर्षत्' पद में किया गया है।

(१५६) 'यम—सूर्य' ये दो अन्योन्यपूरक युगल कार्य हैं। भक्त का निरीक्षण करके ही ईश्वर नहीं रुकता, बल्कि आवश्यकतानुसार उसका नियमन भी करता है, उसे प्रेरणा भी देता है। अशुभ से नियमन, और शुभ के लिए प्रेरणा। 'यम' याने नियमन करने वाला। सूर्य याने उत्तम प्रेरणा देने वाला (सु+ईर्) सूर्य को ही सूक्ष्म-रूप से सविता भी कहते हैं। गायत्री मन्त्र में इसीके वरणीय स्वरूप का ध्यान कर बुद्धि के लिए उससे उत्तम प्रेरणा की अपेक्षा की गई है।

(१६०) 'प्राजापत्य' शब्द 'राज्य' के विरोध में उपस्थित किया गया है। उससे ईश्वरी राज्य का स्वरूप दर्शाया जाता है।

अर्थात्, वह धर्मवाचक शब्द है । उसीको यहां धर्मी के लिए प्रयुक्त किया है ।

(१६१) "व्यूह—समूह" अथवा विश्लेषण और संश्लेषण के मिलने से ही कोई भी दर्शन पूर्ण होता है । पर भौतिक चिंतन में विशेषतः विश्लेषण प्रधान सिद्ध होता है और आध्यात्मिक चिंतन में संश्लेषण (टिप्पणी ७२ देखो) ।

(१६२) "पोषण+निरीक्षण+नियमन+प्रवर्तन+पालन" यह है ईशतत्त्व का विश्लेषण । उसीका संश्लेषण, 'परम-कल्याण' ।

(१६३) "*तत् ते पश्यामि*" यह वाक्य मानो छंद के बाहर का है, याने, वह बिलकुल धीमे स्वर में, बीच में ही बोलना है ।

(१६४) ईश्वर को "*अ-शब्दं,अ-स्पर्श,अ-रूपं*" (कठ० १।३।१५) आदि प्रकार से केवल 'अ-व्यक्त' कहा गया है । तब उसका रूप-दर्शन कैसे हो, यह प्रश्न यहां उठ सकता है । इसीको लेकर ब्रह्म-सूत्रों ने इसका उत्तर यह दिया है : "*अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमा-नाभ्याम्*" (ब्र० सू० ३।२।२४)। सूत्र का एक अर्थ—"श्रुति और स्मृतियों का निर्णय है कि ध्यानावस्था में अव्यक्त ईश्वर का भी दर्शन हो सकता है।" सूत्र का दूसरा अर्थ—"ईश्वर का शब्द सुनना, ईश्वर का रूप देखना, ईश्वर के स्पर्श का अनुभव करना आदि सगुण साक्षात्कार का कई भक्तों ने तन्मय अवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव किया है और (वैतर्किक) अनुमान से इसकी संगति भी बैठती है।" वैतर्किक अनुमान-पद्धति का थोड़ा-सा दिग्-दर्शन टिप्पणी ५५ में किया गया है ।

(१६५) "*योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहं अस्मि*" यहां, यह दूसरा 'असौ' शब्द अवतरणांकित है । "वह जो 'असौ' पुरुष कहा है, मैं हूँ" यह है इस वाक्य का अर्थ । 'असौ पुरुष' याने उस पार का, परात् पर, पुरुष अर्थात् परमेश्वर । वह जो उस पार का है वही बिलकुल इस पार का है, अर्थात् मैं ही वह हूं ।

(१६६) पुरुष शब्द आत्मवाचक प्रसिद्ध ही है। उसका श्रुति ने अनेक प्रकार से निर्वचन किया है। (१) *"तेन एष पूर्णः"* अपनी पूरक शक्ति से देह को पूर्ण करता है' इसलिए 'पुरुष' (तै०२।५)। (२) *"पूर्व ओषत्"* अर्थात् पहले ही देह को जला चुका है, इसलिए 'पुरुष' (बृ० १।४।१) । (३) *"पुरीतति शेते"* (बृ० २।१।१६) या *"पुरि शेते"* (बृ० २।५।१८) याने देह में, हृदय की गुहा में, पड़ा रहता है, इसलिए 'पुरुष' । (४) *"पुरः आविशत्"* (बृ० २। ६। १८) देह में प्रवेश किया है, इसलिए 'पुरुष' । इसके अतिरिक्त *"पूर्व अर्षत्"* इति 'पुरुषः' यह निर्वचन पहले आ ही चुका है (देखो टिप्पणी ५८) । ये सभी निर्वचन उत्तम भाव प्रदर्शित करते हैं। पर इस मन्त्र में 'पूषन् एकर्षे' आदि पदों द्वारा ईश्वर की ईश्वरता की व्याख्या की गई है, इसलिए इसके अनुसार, मुझे लगता है, कि *"पुरः ईष्टे"* याने देह पर शासन चलाता है, राज्य करता है, इसलिए 'पुरुष'-यह निर्वचन यहां सूचित किया जाता है, या सूचित करना चाहिए।

(१६७) विश्लेषण से प्राप्त पोषण आदि पंच रश्मियां—यह है चिंतन की पहली भूमिका। संश्लेषण से प्राप्त कल्याणतम तेज यह दर्शन की दूसरी भूमिका है । और उससे भी परे *"योऽसौ असौ पुरुषः सोऽहं अस्मि"* यह समरसता की तीसरी भूमिका है।

(१६८) 'सोऽहम्' यह जप है या अनुभव ? यहाँ उसे अनुभव के रूप में आगे रखा है। पर साधक के लिए वही जप है। यह जप प्राणायाम के साथ करने का है। पर और समय भी सामान्य श्वास-प्रश्वास के साथ यह जप करने में आपत्ति नहीं है। योग-शास्त्र में उसकी प्रक्रिया विस्तार से साथ दी है । आत्मानुभव के अनन्तर उसका जपरूप लोप होकर इसको अखंड जप का रूप आता है। इसे 'अजपा' नाम दिया गया है।

(१६६) 'सोऽहम्' शब्द से किस प्रकार का ऐक्य सूचित किया गया है? प्रेमातिशयरूप, या अंगांगिभावरूप, या अंशांशिरूप या साधर्म्यरूप, या तादात्म्यरूप? जैसी कल्पना करेंगे वैसा होगा। अनुभव से ही लें। शब्द में न समाने वाली वस्तु को शब्दों में रखने का प्रयत्न करने से वाद ही बढ़ेगा, बोध नहीं होगा।

(१७०) 'असौ पुरुष' याने प्रतीक रूप से 'आदित्य पुरुष' यह भी एक अर्थ है। माध्यंदिन पाठ में उसे इसी तरह लिया गया है। पंद्रहवें मन्त्र का पूर्वार्ध और इस मन्त्र का पाठ-भेद वाला अंतिम चरण लेकर माध्यंदिनों ने इस प्रकार पाठ की रचना की है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥

यह मन्त्र उसकी आनुपूर्वी में अध्याय के अंत में दिया गया है। इस पाठ-भेद से 'असौ पुरुष' शब्द का प्रतीक दिखाने के अतिरिक्त अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। यहां भी आदित्य शब्द से परमेश्वर ही लक्ष्य है। यह बृहदारण्यक के नीचे के प्रवचन से ध्यान में आ जायेगा।

यः आदित्ये तिष्ठन्, आदित्यात् अन्तरः, यं आदित्यः न वेद, यस्य आदित्यः शरीरम्, यः आदित्यं अन्तरः यमयति, एष ते आत्मा अंतर्यामी अमृतः (बृ० ३।७।६)।

(१७१) सोऽहंसिद्धि के अनन्तर सहज ही मुक्ति की अपेक्षा रहती है। इसलिए अगले मन्त्र में मुक्ति की प्रार्थना है और उसमें मुक्ति का स्वरूप और उसके अंग के रूप में अंतकालीन साधना सूचित की गई है।

: १७ :

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

अर्थ—यह प्राण उस चैतन्यमय, अमृत-तत्त्व में लीन होवे और फिर शरीर की राख हो जाय । ईश्वर का नाम लेकर, हे मम संकल्पमय जीव, स्मरण कर । उसका किया स्मरण कर । हे (मेरे) जीव, स्मरण कर । (अपने संकल्प छोड़कर) उसका किया स्मरण कर ।

(१७२) यहां वायुप्रतीक में ईश्वर का ध्यान करना है । जो अंतर्यामी वायु का चालक है, वही मेरे प्राणों का चालक है । सत्य उसकी संज्ञा है । वायु और प्राण को सुनहरा ढक्कन समझें ।

(१७३) वायुः (कर्त्ता) अनिलम् (कर्म), प्रतिपद्यताम् (क्रिया-पद अध्याहृत) । इसका एक अर्थ यह होता है—"वायु याने शरीरगत वायु अर्थात् प्राण, निरंतर हलचल करने वाले अनिल में याने ब्रह्मांडगत वायु में, घुलमिल जाय" । इस अर्थ में यह वाक्य उपलक्षण स्वरूप है । अर्थात् शरीर के वे सब तत्त्व उनके मूल देवताओं में लीन हो जायँ—इस तरह उसका यह व्यापक अर्थ होता है ।

(१७४) 'वायुर् अनिलम्' इसका दूसरा अर्थ यों होता है—"जीव चैतन्यमय परमात्म-तत्त्व में घुलमिल जाय" । 'वायुः' याने जीव यह अर्थ "वाति गच्छति इति वायुः" इस व्युत्पत्ति से सूचित हुआ है । जीव उपाधियुक्त होकर एक देह से दूसरे देह को वासना के अनुसार जाया करता है । इस तरह वह न जाय, निरुपाधिक होकर रहे, यही अभिलाषा यहां की गई है ।

(१७५) 'अनिल' शब्द 'अन्' याने हलचल करना, इस धातु से बना है । सभी क्रियाओं में किसी-न-किसी प्रकार की हलचल होती ही है । इसलिए इसे धातुओं का भी धातु कहना चाहिए ।

संस्कृत में 'गमन', 'अशन', आदि क्रियावाचक संज्ञा बनाते समय जो 'अन' प्रत्यय जोड़ा जाता है, मैं मानता हूँ, वह 'अन्' धातु का ही रूप है। इस प्रकार इस मूलभूत और व्यापक धातु से ही 'अनिल' शब्द चैतन्य का वाचक बना है। इसके सिवाय 'अन्' धातु का विशेष अर्थ "श्वसन आदि वायुक्रिया" होता है। 'प्राण' 'अपान' आदि शब्दों में वह दिखाई देता है। उससे अनिल अर्थात् वायु यह विशेष अर्थ निष्पन्न हुआ। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस मन्त्र में ये दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं।

(१७६) 'अमृतम्' यह शब्द मन्त्र ११ और १४ में आ चुका है। वहां मोक्षवाचक है, और यहां ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। दोनों का अर्थ एक ही है। मरणराहित्य चैतन्य का लक्षण ही है। सब कुछ मरने के बाद जो बचता है, वही चैतन्य है। बृहदारण्यक १।३।२८ में "असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर् गमय। मृत्योर् मा अमृतं गमय।" ये तीन सुप्रसिद्ध प्रार्थना-मन्त्र "अभ्यारोहार्थ" अर्थात् साधक की उन्नति के लिए जप्य के तौर पर कहे गये हैं। ईशावास्य के मन्त्र १५, १६, १७, में उन तीनों को यथाक्रम सूचित किया गया है।

(१७७) "भस्मान्तं शरीरं (भूयात्)" यह है दहन-विधि का उल्लेख। दहन की अभिलाषा वैदिक धर्म की एक विशेषता है। शरीर का स्मरण किसी-न-किसी प्रकार से शेष रहे ऐसा प्रयत्न सभी लोग यथाशक्ति किया करते हैं। इसके विपरीत, वह स्मरण, यदि हो सके तो, निःशेष लोप हो जाय—यह है वैदिक साधकों की पवित्र व्याकुलता।

"माझें नामरूप लोपो। असतेपण हारपो"

"मेरा नामरूप लोप हो जाय। अस्तित्व खो जाय।"—ज्ञानदेव

(१७८) "*अथ इदं भस्मान्तं शरीरम्*" यहां के अथ शब्द में खूबी भरी हुई है। 'अथ' अर्थात् अनन्तर। पहले जीव परमात्मा

में विलीन हो जाय और बाद में शरीर की राख हो जाय। अन्यथा जीव-भाव कायम रहते हुए केवल दहनविधि का नाटक करने से क्या लाभ होगा ? जीवत्व की राख होने दे, फिर उस बात के स्मारक के तौर पर शरीर की राख होने दे। पहले विजय, अनन्तर विजयोत्सव। मानव-शरीर मोक्ष के लिए है। अपना उद्देश्य साधकर ही वह दहन का अधिकारी हो सकता है।

(१७६) शरीर शब्द की व्युत्पत्ति 'शृ' अर्थात् फटना और 'श्रि' अर्थात् आश्रय करना, इन दो धातुओं से लगाई जा सकती है। शरीर शीर्ण होने वाला—फटा, भंगुर—है। इसे ध्यान में रखकर उसके विषय में हम आसक्ति न बढ़ाएं। साथ ही, वह साधना का आश्रय-स्थान है यह समझकर उसकी उपेक्षा न करते हुए उसे यथा-प्राप्त भोग भी दिया जाय। ऐसा दोहरा अर्थबोध शरीर शब्द दे रहा है। थोड़े में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।"

(१८०) ॐ ईश्वर-नाम। तीनों वेदों को औटाया—उनमें से यह सार निकला, इस तरह इसका उपनिषदों में वर्णन है (छां० २।२३।२)। प्रायः सभी उपनिषदों में इसका विविध प्रकार से वर्णन आया है। नन्हा-सा मांडुक्य तो ॐकार की व्याख्या में ही समर्पित है। योगसूत्रों ने जप के हेतु ॐकार को ही सुझाया है। उसके ज्ञान से सारा वेदाभ्यास सफल और उसके बिना वह निष्फल, ऐसा वेद स्वयं ही कहते हैं।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति ॥" ऋग्वेद

(१८१) दसवें मन्त्र का 'तत्', पंद्रहवें मन्त्र का 'सत्य', और प्रस्तुत मन्त्र का ॐ ये तीनों ही ईश्वर-नाम हैं। ये ईश्वर स्वरूप के तीन पहलुओं को व्यक्त करते हैं। ॐ शुभ-अशुभ दोनों को आत्मसात् करता है; 'तत्' शुभ-अशुभ के परे; 'सत्य' या 'सत्' याने केवल शुभ। इन तीनों को एकत्र कर गीता ने "ॐ तत्

सत्" इस ब्रह्मनिर्देश की योजना की है।[विवरण के लिए देखो 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' व्याख्यान १७]

(१८२) जीव द्वारा जन्म-जन्मांतर में अनेक शुभ-अशुभ संकल्प किये गये। वे सब भुलाए जाएँ यह अंतिम प्रार्थना होने के कारण शुभ-अशुभ सबको अपने उदर में समा लेने का सामर्थ्य रखने वाले ॐकार का स्मरण यहां ठीक ही किया है।

(१८३) जीव को यहां 'क्रतु' अर्थात् 'संकल्प' शब्द से संबोधित किया गया है। जीव-स्वरूप का यह बिलकुल यथातथ्य और मार्मिक वर्णन है। संकल्प ही जीव है। निःसंकल्प शिव है। संकल्परहित भाव, वही साधना।

(१८४) 'क्रतु' शब्द वेदों में बहुत बार आता है। उसका सामान्यतया 'संकल्प' अर्थ है। पर संकल्प और क्रतु में सूक्ष्म भेद है। 'क्रतु' शब्द 'कृ' धातु से बनने के कारण वह कर्मप्रेरक संकल्प है। *"यत्-क्रतुर् भवति तत् कर्म कुरुते"* (बृ. ४।४।५)। इस वाक्य में क्रतु और कर्म का सम्बन्ध जोड़कर बताया गया है। मामूली संकल्प आते हैं और जाते हैं। पर जिस संकल्प के अनुसार मनुष्य किसी कृति का आरम्भ करता है, वह क्रतु है। ऐतरेय उपनिषद में प्रज्ञा का विश्लेषण अनेक वृत्तियों के रूप में रखा गया है। उसमें संकल्प से क्रतु का भिन्न निर्देश प्राप्त होता है। वहां यह सूक्ष्म भेद अभिप्रेत है (ऐतरेय ३।५।२)। लौकिक भाषा में क्रतु अर्थात् दृढ़ संकल्प या कृत-संकल्प कहा जायगा।

(१८५) *"ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर"*। इसका अर्थ "हे संकल्प-रूप जीव, तू अपना किया याद कर" यों किया जाता है। मैंने भी पहले इसी तरह किया था। पर वह प्रकरण के अनुसार नहीं है। यहां तो जीव-दशा का लोप अभीष्ट है। इसलिए यहां ईश्वर के चरित्र का ही स्मरण चाहिए। ईश्वर के मंगल चरित्र का पिछले मंत्र में विवरण किया ही है।

(१८६) *"क्रतं स्मर"* यहां 'कृतं' शब्द से नाम, रूप, गुण, कर्म सभी लक्ष्य हैं। ईश्वर की कृति को, उसके महान् उपकार को, याद करें। उसका नाम, उसका रूप, उसके गुण गायें। अपना संकल्प उसमें विलीन कर देह-भाव भुला दें। इससे अधिक कल्याण-कारी मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है?

(१८७) इसी विचार के समानार्थक—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मां अनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥गीता ८।१३

(१८८) यहां के चौथे चरण के स्थान पर *"क्लिबे स्मर, क्रतं स्मर"* यह एक दूसरा भी पाठ है। उसका अर्थ "संकल्प का उच्छेद करने के लिए ईश्वर का किया याद कर।" अर्थात् इसमें ईश्वर के स्मरण का हेतु स्पष्ट कर दिया है। "क्लिब" यह कृदन्त नाम 'क्लिप्' अर्थात् काटना इस प्राचीन धातु से बना है। यही धातु अंग्रेजी में उतरा है और केश-नाखून आदि काटने के अर्थ में इस-का अंग्रेजी में उपयोग होता है। अर्वाचीन संस्कृत में 'क्लृप्' यह इसी धातु का रूप आया है। *"क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः"* मनुस्मृति के इस वचन में इसका प्रयोग काटने के अर्थ में मिलता है। "क्लिबे स्मर" आदि पाठभेद से "कृतं स्मर" का अर्थ ईश्वर का किया याद करना है, न कि जीव का, यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है।

(१८९) *"क्रतो स्मर, क्रतं स्मर"* इस चरण का दो बार उच्चार अंतकाल में ईश्वर-स्मरण की नितान्त आवश्यकता दर्शाने के लिए है। (इसके अतिरिक्त देखो, टिप्पणी २०५)। अन्तकालीन साधना में ईश्वर स्मरण के एक उपांग के रूप में प्राण-निरोध की बाह्य साधना योगशास्त्र बताता है। गीता में भी थोड़े में वह आठवें अध्याय में आई है। कहा जा सकता है कि, "वायुर् अनिलम् अमृतम्" इस वाक्य ने उसे भी सूचित किया है। यह उस

वाक्य का तीसरा अर्थ हुआ। दूसरे अर्थ टिप्पणी १७३,१७४ में आ ही गए हैं।

(१६०) मोक्ष के स्वरूप को इस मन्त्र में परिपूर्ण रख दिया है: (१) शरीर की राख हो जाये। (२) प्राण आदि सूक्ष्म तत्त्व उन-उन देवताओं में लीन हो जायें। (३) ईश्वर के चिन्तन से संकल्प का उच्छेद हो जाये। (४) जीव परमात्मा में मिल जाये।

(१६१) मोक्ष के इस मन्त्र में दर्शाये स्वरूप का मुण्डक उपनिषद् के नीचे के मन्त्र में विवरण किया गया है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः
देवाश् च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश् च आत्मा
परे ऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ मुण्डक ३।२।७

(१६२) अन्तकाल में ईश्वर का स्मरण हो यदि ऐसी युक्तियुक्त आशा करनी है तो उसके लिए सारा जीवन तद्-भावभावित होना आवश्यक है। आदि से अंत तक पवित्र, निर्मल जीवन व्यतीत करने का यत्न करना चाहिए। इसके लिए अगले मन्त्र की प्रार्थना है।

: १८ :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

अर्थ—हे मार्ग-दर्शक देदीप्यमान् प्रभो, विश्व में बुने हुए सब तत्त्व, तू जानता है। हमें सरल मार्ग से उस परम आनंद की ओर ले जा। टेढ़ा जाने वाला पाप, तू हमसे दूर हटा। तेरी हम फिर-फिर नम्रवाणी

से विनय करते हैं।

(१६३) यहां अग्नि के प्रतीक में ईश्वर का ध्यान करना है। जो अन्तर्यामी अग्नि का उद्दीपक है, वही मेरे शरीर का भी उद्दीपक है। 'सत्य' उसकी संज्ञा है। अग्नि और शरीर को सुनहरे ढक्कन समझना चाहिए।

(१६४) जीवन के सभी गंभीर कार्य अग्नि की साक्षी में करने की वैदिकों की रीति है। उसके अनुसार इस मन्त्र में अग्नि से चारित्र्य की प्रार्थना की गई है। अर्थात् यह अग्नि-साक्ष्य चारित्र्य की प्रतिज्ञा है।

(१६५) 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति यास्क ने अनेक प्रकारों से दी है। उनमें से अग्नि='अग्रणी' यह निरुक्ति यहां लागू होती है। क्योंकि अग्नि से मार्ग-दर्शन की अपेक्षा प्रस्तुत मन्त्र में की गई है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार 'अञ्ज्' (अर्थात् व्यक्त होना, प्रकाशित होना) धातु से अग्नि शब्द बना है और विभिन्न अपभ्रंश-रूपों में, कई भाषाओं में, वह प्रचलित है। जो कुछ भी प्रकट हुआ है उस सब को अग्नि का रूप समझना है। इसके अतिरिक्त अग्नि प्रकाशक होने के कारण, ज्ञान-स्वरूप भी माना गया है। इसलिए उसको वेदों में 'जात-वेदस्' और प्रस्तुत मन्त्र में 'विद्वान्' कहा है। अर्थात् अग्नि के मानी हैं विश्वरूप से व्यक्त हुआ, विश्व का तत्त्व जानने वाला, विश्व का मार्ग-दर्शक 'सगुण साकार' परमेश्वर।

(१६६) "*अग्ने नय सुपथा*"। सुपथ अर्थात् सीधा रास्ता—पंद्रहवें मन्त्र का 'सत्य-धर्म'; वेद-प्रतिपादित 'ऋजु-नीति;' योगशास्त्र का 'यम-नियम;' मनु का सार्ववर्णिक 'मानव-धर्म;' जैन एवं बौद्धों का 'चारित्र्य'; कुरान का 'सिरात्वल् मुस्तकीम्'; संतों द्वारा अनुसृत सरल 'सिद्ध पंथ'। '*मारग हा सोपा सिद्ध-पंथ*' —तुकाराम।

[१९७] "*राये*" अर्थात् 'रै' की ओर। 'रै' और 'रयि' ये दो शब्द वेदों में बारबार आते हैं। मूलतः एक ही शब्द के ये दो रूप हैं। फ़िर भी उनमें अर्थ की भिन्न-भिन्न छटाएँ हैं। 'रयि' शब्द का अर्थ समृद्धि होता है। हमारी ग्रामीण (कुणबाऊ) मराठी में जो 'लई' (अर्थात् बहुत, विपुल) शब्द है उसका आधार यही वैदिक 'रयि' है। 'रयि' शब्द का स्वयं उपनिषदों ने इसत रह विवरण किया है : "रयिर् वै एतत् सर्वं यन् मूर्तं च अमूर्तं च" (प्रश्न उपनिषद् १।५)—मूर्त अमूर्त सभी 'रयि' है। 'रै' शब्द मुख्यतया आनंद का वाचक है। उसीका दूसरा रूप 'रे' भी होता है। 'रेवा' शब्द में वह उपलब्ध है। 'रे-वा' अर्थात् 'नर्म-दा,' आनंद देने वाली, आनंदमयी। पर 'रै' और 'रयि' दोनों मूल में एक ही होने के कारण, अर्थ की दोनों छटाओं को मिलाकर इस मन्त्र में 'रै' का अर्थ 'परम आनंद' निकाला गया है।

(१९८) ईश्वर-दर्शन (मंत्र १६), और ईश्वर-प्रवेश (मंत्र १७), ही परम आनंद है। वही "रयि' है, यही 'लई' (परम) है। "*एषा अस्य परमा गतिः। एषा अस्य परमा संपत्। एषः अस्य परमः आनन्दः। एतस्य एव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवन्ति*" (बृ० ४।३।३२) "*यो रायोऽवनिर् महान्*" ऋग्वेद १।४।१०। जो परम आनंद का धाम है।

(१९९) 'रै' शब्द मानो धन विरोधी के रूप में उपस्थित किया गया है। जीवन का साध्य 'रै' है, न कि धन, यह यहां सूचित करना है। उचित मार्ग से कमाया जाय तो धन भी आनंद का एक साधन हो सकता है। पर अकर्मण्यता से और लुटेरी वृत्ति से धन कमाना सामाजिक तथा आध्यात्मिक आनंद की नींव ही उखाड़ फेंकना है। इस तरह का धन धन नहीं, वह तो निधन (विनाश) है।

(२००) आध्यात्मिक भाषा में उपनिषदों ने जिसे 'वित्तैषणा-

त्याग" कहा है, या सामाजिक भाषा में मनु ने जिसे "अर्थ-शुचिता" का नाम दिया है,उसका प्रत्यक्ष बोध मन्त्र १ और २ में दिया जा चुका था। उसीको आगे आठवें और पंद्रहवें तथा इस अंतिम मन्त्र में सूचना देकर दृढ़ किया है।

(२०१) "*अग्ने नय सुपथा राये*"। साध्य ठीक होना चाहिए, फिर साधन चाहे जैसा हो, यह भ्रम आदिकाल से अबतक चला आ रहा है। उसका निवारण 'सुपथा' शब्द कर रहा है। साधन-गत अपवित्रता साध्य को दूषित किये बगैर नहीं रहती, यह शास्त्र है।

(२०२) '*अस्मान्*'। यह सामुदायिक प्रार्थना है। पिछले दो मन्त्रों में आया हुआ एकवचनान्त प्रयोग यहां एकाएक बहुवचन में पलट जाता है और इसपर ध्यान खिंच जाता है। ईश्वरदर्शन (मंत्र १६), और ईश्वर-प्रवेश (मंत्र १७), ये वस्तुएँ यद्यपि व्यक्तित्व का लोप कर देती हैं, तो भी वे उन-उन व्यक्तियों के लिए ही सीमित होने के कारण व्यक्तिगत ही रहेंगी। "मनुष्याणां सहस्रेषु" किसी विरले को ही वे प्राप्त हो सकती हैं। और जिसे प्राप्त हो जायँ, उसके संसार का तो अंत हो जाएगा, पर औरों का संसार तो शेष रहेगा (योग-सूत्र २।२२)। किन्तु चारित्र्य-साधना की बात ऐसी नहीं है। वह साधना सामुदायिक हो सकती है तथा वैसी करनी चाहिए। सामुदायिक रूप में करने से ही वह पूर्ण होती है ; और कसौटी पर भी चढ़ती है। उसी-से वह एक तरह से सुलभ भी हो जाती है। "*एकमेकां करूं साह्य। अवघे धरूं सुपंथ।*" परस्पर की सहायता करते हुए हम सभी सुमार्ग पर चलें—तुकाराम। इस तरह यह सामुदायिक साधना का सुपंथ है।

(२०३) पिछले पंद्रहवें मन्त्र में प्रार्थना सत्यधर्म के दर्शन के विषय में है। यहां वह सत्यधर्म के आचरण के विषय में है।

(२०४) '*वयुनानि*'। 'वे' अर्थात् बुनना, गूँथना, पिरोना। उसमें 'अन' और 'उन' प्रत्यय जोड़कर 'वयन और 'वयुन' ये दो शब्द बनते हैं। 'वयन' अर्थात् बुनने की क्रिया। 'वयुन' अर्थात् बुनावट, गूंथन, अनुस्यूति, जीवन में पिरोये हुए या व्याप्त तत्त्व। इस तरह की अनुस्यूतियों का या वयुनों का जितना ज्ञान होता है उतना ही कर्तव्यपथ स्पष्ट हो जाता है। जैसे प्राणिमात्र के जिजीविषा, जीने की इच्छा होती है (मंत्र २), यह वयुन समझ में आ जाने पर अहिंसाधर्म प्रवाह से ही प्राप्त होता है। मैं एवं अन्य भूत एक दूसरे में मिले हुए हैं (मंत्र ६), यह वयुन जँच जाये तो फिर कहने की जरूरत ही नहीं रहती कि किसीके प्रति जुगुप्सा या तिरस्कार न करें।

(२०५) '*युयोधि*'—'यु' (दूर करना) धातु का यह रूप माना जाता है। पर 'युध्' (अर्थात् लड़ना) धातु का भी यह रूप हो तो वैदिक व्याकरण कोई रुकावट नहीं डालेगा। इसलिए दोनों अर्थों को सम्मिलित कर इसका अर्थ 'खदेड़ देना' करना योग्य है। साधक को ईश्वर-स्मरणपूर्वक पाप से निरंतर लड़ते रहना चाहिए, यह है इस प्रार्थना का तात्पर्य।

"*तस्मात् सर्वेषु कालेषु मां अनुस्मर युद्धच च*"। गीता ७।७
"*रात्रीदिवस आम्हां युद्धा चा प्रसंग। अंतर्बाह्य जग आणि मन।—*"
तुकाराम।

(२०६) "*जुहुराणं एनः*" अर्थात् टेढ़ा जाने वाला पाप। टेढ़ा जाने वाला ही पाप है। सरलता पुण्य है; टेढ़ापन पाप। इससे भिन्न पाप-पुण्य की यथार्थ व्याख्या दूसरी कौन-सी की जा सकती है? वेदों में पाप को 'दुरित' और पुण्य को 'सुवित' ये संज्ञाएँ आया करती हैं। इनका अक्षरशः अर्थ है टेढ़ा जाना और सीधा जाना।

(२०७) '*जुहुराणं*'—"ह्वृ कुटिलगतौ" इसपर से 'टेढ़ा जाने

वाला'। बुनते समय हत्थे की ठोक सीधी लगनी चाहिए। हाथ को अगर टेढ़ी ठोक लगाने की आदत हो, तो बुनाई टेढ़ी होने लगती है और कपड़ा सीधा करने के लिए फिर बीच में धागे भरने पड़ते हैं। यह सब पाप प्रक्रिया है। 'वयुन' और 'जुहुराण' शब्द बुनाई की परिभाषा सूचित करते हैं।

(२०८) *"भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम"*। व्रत-प्रतिज्ञा के लिए नम्रता का सहारा आवश्यक है। प्रतिज्ञा तथा नम्रता की सहायता से व्रत की रक्षा हुआ करती है। यही 'राम-रक्षा', यही 'अग्नि-साक्ष्य'।

(२०९) थोड़ा-सा पाठ-भेद छोड़ दें, तो यह उपनिषद् यजुर्वेद का अंतिम अध्याय है। इसलिए यह मंत्र भी यजुर्वेदगत ही है। पर मूल यजुर्वेद में ही वह ऋग्वेद से अवतरित हुआ है। (ऋग्वेद १।१८९।१)। निंदित कर्म हाथ से होने पर या मार्गभ्रंश होने पर शास्त्र में उसका जप कहा है। परन्तु यह हुआ नैमित्तिक विनियोग। वास्तव में यह मन्त्र जीवन में नित्य का मार्ग-दर्शक साथी है।

(२१०) माध्यंदिन पाठ में अंत में "ॐ खं ब्रह्म" यह निर्देश जोड़ दिया है। उसमें से ॐकार का संग्रह सत्रहवें मन्त्र में हुआ है। ब्रह्म-पद का ख-शब्द से उल्लेख आया नहीं है, फिर भी मन्त्र ४-५ का नपुंसकलिंगी प्रयोग उसीको लक्ष्य करता है (टिप्पणी ५४)। 'खं' अर्थात् आकाशवत् व्यापक। यह उपासना के लिए समझें। अन्यथा ब्रह्म की व्याप्ति में उसकी कहीं गिनती ही नहीं (देखो टिप्पणी ६७)।

(२११) मन्त्र १६ से १८ यह ध्यानत्रयी मिलाकर एक संपूर्ण चिंतन है। "भूः भुवः स्वः" ये ॐकार की तीन मात्राएँ हैं। पृथ्वी, अंतरिक्ष, स्वर्ग ये हैं उनके आधिभौतिक अर्थ। अग्नि, वायु, सूर्य उनके अधिदैवत। और शरीर, प्राण, बुद्धि

उनका अध्यात्म।

(२१२) मन्त्र १६ से १८ में आये हुए सूर्य, अनिल, अग्नि इन शब्दों का अर्थ किस तरह करें? वेद के चिंतन में यह प्रश्न हमेशा आया करता है। क्योंकि वेदों में इन और इन जैसे दूसरे अनेक देवताओं के सूक्त भरे पड़े हैं। क्या इनको यथाश्रुत भिन्न-भिन्न देवता समझें? इसका उत्तर स्वयं वेद ने ही इस तरह दिया है: "*एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।*" परमेश्वर एक है; उपासकों ने उसे अनेक नाम दिये हैं। अगर ऐसा है, तो उपासक को चाहिए कि वह अपनी प्रीति के एक ही नाम से चिपटा रहे। पर वेदों में तो एक ही उपासक अनेक नाम लेता हुआ दिखाई देता है। ईशावास्य में भी वही बात है। यह कैसी उलझन? यह उलझन नहीं, सुलझन है। संपूर्ण परमेश्वर एक ही अभिव्यक्ति में न समाने के कारण पहले हम उसकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करें, बाद में उन सब का संश्लेषण करें और अंत में उसके भी पार जाकर "सोऽहं अस्मि" के अनुभव में घुल जायँ। इस तरह यह एक परिपूर्ण उपासना-प्रक्रिया है और मन्त्र १६ में उसका विवरण हुआ है। वेदार्थ-मीमांसा के आचार्य जैमिनि ने अग्निवाचक वैश्वानर शब्द की चर्चा करते समय कहा है कि वैश्वानर शब्द को अक्षरार्थ से भी साक्षात् ईश्वरवाचक समझा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है (ब्र० सू० १।२।२८)। इसी न्याय को व्यापक करके 'सूर्य' अर्थात् वाच्यार्थ से 'प्रेरक' परमेश्वर, 'अनिल' अर्थात् वाच्यार्थ से 'चैतन्यमय' परमेश्वर, 'अग्नि' अर्थात् वाच्यार्थ से 'देदीप्यमान मार्ग-दर्शक' परमेश्वर इन अर्थों को ध्यान में रखने से सब स्पष्ट हो जाता है। पर इतना होते हुए भी सूर्य आदि विशिष्ट अभिव्यक्तियों को भूल नहीं जाना है। इस प्रकार यह एक व्यापक समन्वय-दर्शन है।

(२१३) उपनिषद् आदि की समाप्ति में अंतिम एक दो पदों की द्विरुक्ति करने की रूढ़ि है। उसे शास्त्रीय भाषा में 'पदाभ्यास' कहते हैं, और वह समाप्ति का सूचक माना जाता है। इस प्रकार का पदाभ्यास ईशावास्य के अंत में दिखाई नहीं देता। पर वह सत्रहवें मन्त्र में पाया जाता है। और, एक तरह से ईशावास्य मानो वहीं समाप्त हो जाता है। क्योंकि यह अठारहवाँ मन्त्र ईशावास्य ने विषय की पूर्ति के लिए ऋग्वेद से सीधा ले लिया है। उसके बिना ईशावास्य का विवेचन अपूर्ण ही रहता इस कारण वह ईशावास्य का अंगभूत ही है, पीछे से जोड़ा हुआ नहीं है। पर अठारहवें मन्त्र के अन्त में पदाभ्यास क्यों नहीं, वह इस प्रकार ध्यान में आता है: बाकायदा पदाभ्यास उसमें न होने पर भी उसके बदले उसके अन्तर्गत "भूयिष्ठां नमउक्तिम्" ये पद ग्रन्थ की परिसमाप्ति सूचित करते हैं।

शान्ति-मन्त्र

ॐ। पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी, पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ईशावास्य उपनिषत्

मूल, पद-पाठ और अर्थ

शांति-मंत्र

ॐ। पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पद-पाठ—पूर्णम्, अदः, पूर्णम्, इदम्, पूर्णात्, पूर्णम्, उदच्यते। पूर्णस्य, पूर्णम्, आदाय, पूर्णम्, एव, अवशिष्यते॥

अर्थ—ॐ। वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी, पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

: १ :

ॐ । ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

पद-पाठ—ईशावास्यम्, इदम्, सर्वम्, यत्, किम्, च, जगत्याम्, जगत् । तेन, त्यक्तेन, भुञ्जीथाः, मा, गृधः, कस्य, स्वित्, धनम् ॥

अर्थ—हरिः ॐ । जगत् में जो कुछ जीवन है, वह ईश्वर का बसाया हुआ है । इसलिए उसके नाम से त्याग करके, तू यथाप्राप्त भोगता जा । किसीके भी धन के प्रति, वासना न रख ।

: २ :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे ॥

पद-पाठ—कुर्वन्, एव, इह, कर्माणि, जिजीविषेत्, शतम्, समाः । एवम्, त्वयि, न, अन्यथा, इतः, अस्ति, न, कर्म, लिप्यते, नरे ॥

अर्थ—इह लोक में कर्म करते-करते ही, सौ साल तक जीने की इच्छा करें । तुम देहवान् के लिए यही मार्ग है । इससे भिन्न मार्ग नहीं है । मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता, फल-वासना चिपकती है ।

: ३ :

असुर्या नाम ते लोका
अन्धेन तमसावृताः ।
ता ँस् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति
ये के चात्महनो जनाः ॥

पद-पाठ—असुर्याः,नाम, ते, लोकाः, अन्धेन, तमसा, आवृताः । तान्, ते, प्रेत्य, अभिगच्छन्ति, ये, के, च, आत्महनः, जनाः ॥

अर्थ—आत्मज्ञान से शत्रुता करने वाले जो कोई आत्मघातकी जन हैं, वे देह-पात के बाद, गाढ़ अन्धकार से घिरी हुई आसुरी कही जाने वाली योनि की ओर मुड़ते हैं ।

: ४ :

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

पद-पाठ—अनेजत्, एकम्, मनसः, जवीयः, न, एनत्, देवाः, आप्नुवन्, पूर्वम्, अर्षत् । तत्, धावतः, अन्यान्, अत्येति, तिष्ठत्, तस्मिन्, अपः, मातरिश्वा, दधाति ॥

अर्थ—वह आत्मतत्त्व एक ही एक, बिल्कुल चलन-चलन न करने वाला किन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है । देव उसे पकड़ नहीं सकते । उसने अलबत्ते देवों को, कभी से पकड़ रखा है । दौड़ने वाले दूसरों को वह खड़ा रह के पीछे डालता है । प्रकृति माता की गोद में, खेलने वाला प्राण, उसीकी सत्ता पर, हलचल करता रहता है ।

: ५ :

तदेजति तन्नैजति
तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य
तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

पद-पाठ—तत्, एजति, तत्, न, एजति, तत्, दूरे, तत्, उ, अन्तिके । तत्, अन्तर्, अस्य, सर्वस्य, तत्, उ, सर्वस्य, अस्य, बाह्यतः ॥

अर्थ—वह हल-चल करता है और वह हल-चल करता नहीं । वह दूर है और वह पास है । वह इन सबके भीतर और वह इन सबके बाहर है ।

: ६ :

यस्तु सर्वाणि भूतानि
आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विजुगुप्सते ॥

पद-पाठ—यः, तु, सर्वाणि, भूतानि, आत्मनि, एव, अनु-पश्यति । सर्वभूतेषु, च, आत्मानम्, ततः, न, विजुगुप्सते ॥

अर्थ—जो निरन्तर आत्मा में ही समस्त भूत और समस्त भूतों में आत्मा को देखता है, वह फिर किसीसे ऊबता नहीं ।

: ७ :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यतः ॥

पद-पाठ—यस्मिन्, सर्वाणि, भूतानि, आत्मा, एव, अभूत्, विजानतः । तत्र, कः, मोहः, कः, शोकः, एकत्वम्, अनुपश्यतः ॥

अर्थ—जिसकी दृष्टि से आत्मा ही सर्वभूत हो रहा, उस निरन्तर एकत्व देखने वाले, विज्ञानी पुरुष को, मोह कहाँ और शोक कहाँ ?

: ८ :

स पर्यगाच् छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच् छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

पद-पाठ—सः, पर्यगात्, शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्। कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयंभूः, याथातथ्यतः, अर्थान्, व्यदधात्, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः ॥

अर्थ—वह उस तेजस्वी, देहरहित, अतएव व्रणादि देह-दोषों से और स्नायु आदि देह-गुणों से सर्वथा अलिप्त, शुद्ध और पाप-वेधमुक्त, ऐसे आत्मतत्त्व को चारों ओर से घेरकर बैठ गया। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी, वशी, व्यापक और स्वतन्त्र हो गया। उसने शाश्वतकाल तक टिकने वाले, सर्व अर्थ यथावत् साध लिये।

: ९ :

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

पद-पाठ—अन्धम्, तमः, प्रविशन्ति, ये, अविद्याम्, उपासते । ततः, भूयः, इव, ते, तमः, ये, उ, विद्यायाम्, रताः ॥

अर्थ—जो अविद्या में डूब गये, वे घोर अन्धकार में चले गये । जो विद्या में रम गये, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में चले गये ।

: १० :

अन्यदेवाहुर् विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥

पद-पाठ—अन्यत्, एव, आहुः, विद्यया, अन्यत्, आहुः, अविद्यया । इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे ॥

अर्थ—आत्मतत्त्व को विद्या से भिन्न ही कहा है और अविद्या से भिन्न कहा है । जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है ।

: ११ :

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

पद-पाठ—विद्याम्, च, अविद्याम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह । अविद्यया, मृत्युम्, तीर्त्वा, विद्यया, अमृतम्, अश्नुते ॥

अर्थ—विद्या और अविद्या, इन दोनों के साथ, जो उस आत्मतत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्मतत्त्व के सहारे, अविद्या से मृत्यु को पार करके, विद्या से अमृत को पाते हैं।

: १२ :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥

पद-पाठ—अन्धम्, तमः, प्रविशन्ति, ये, असंभूतिम्, उपासते । ततः, भूयः, इव, ते, तमः, ये, उ, संभूत्याम्, रताः ॥

अर्थ—जो निरोध में डूब गये वे गाढ़ अन्धकार में पैठे। जो विकास में रम रहे, वे मानो उससे भी घोर अन्धकार में पैठे।

: १३ :

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥

पद-पाठ—अन्यत्, एव, आहुः, संभवात्, अन्यत्, आहुः, असंभवात्। इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे।

अर्थ—आत्मतत्त्व को विकास से भिन्न ही कहा है और निरोध से भिन्न कहा है। जिन्होंने हमको उसका दर्शन कराया है, उन धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है।

: १४ :

संभूतिं च विनाशं च यस् तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥

पद-पाठ—संभूतिम्, च, विनाशम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह । विनाशेन, मृत्युम्, तीर्त्वा, संभूत्या, अमृतम्, अश्नुते ।

अर्थ—विकास और निरोध, इन दोनों के साथ, जो उस आत्मतत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्मतत्त्व के सहारे, निरोध से मृत्यु को पार करके, विकास से अमृत को पाते हैं ।

: १५ :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ॥

पद-पाठ—हिरण्मयेन, पात्रेण, सत्यस्य, अपिहितम्, मुखम् । तत्, त्वम्, पूषन्, अपावृणु, सत्य-धर्माय, दृष्टये ॥

अर्थ—सुवर्णमय पात्र से, सत्य का मुंह ढँका हुआ है । हे विश्वपोषक प्रभो, मुझ सत्यधर्म उपासक के दर्शन के लिए, उसे तू खोल ।

: १६ :

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत् ते रूपं कल्याण-तमं, तत् ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

पद-पाठ—पूषन्, एक-ऋषे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, व्यूह, रश्मीन्, समूह। तेजः, यत्, ते, रूपम्, कल्याणतमम्, तत्, ते, पश्यामि, यः, असौ, असौ, पुरुषः, सः, अहम्, अस्मि ॥

अर्थ—तू इस विश्व का पोषक, और तू ही एक निरीक्षक है। तू नियमनकर्त्ता और तू उत्तम प्रवर्तन-कर्त्ता है। तू सबका प्रजावत् पालन-कर्त्ता है। तेरे ये पोषणादि रश्मि खोलकर और एकत्र करके दिखा। तेरा वह तेजस्वी और परम कल्याणमय रूप मैं अब देख रहा हूँ। वह जो परात्पर पुरुष, सो मैं हूं।

: १७ :

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

पद-पाठ—वायुः, अनिलम्, अमृतम्, अथ, इदम्, भस्मा-न्तम्, शरीरम्। ॐ, क्रतो, स्मर, कृतम्, स्मर, क्रतो, [illegible] कृतम्, स्मर।

अर्थ—यह प्राण उस चैतन्यमय, अमृत-तत्त्व में लीन होवे [illegible] फिर शरीर की राख हो जाय। ईश्वर का नाम लेकर, हे दृढ़ संकल्पमय जीव, स्मरण कर। उसका किया स्मरण कर। हे मेरे जीव, स्मरण कर। अपने संकल्प छोड़कर उसका किया स्मरण कर।

: १८ :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

पद-पाठ—अग्ने, नय, सुपथा, राये, अस्मान्, विश्वानि, देव, वयुनानि, विद्वान्। युयोधि, अस्मत्, जुहुराणम्, एनः, भूयिष्ठाम्, ते, नमउक्तिम्, विधेम॥

अर्थ—हे मार्ग-दर्शक देदीप्यमान् प्रभो, विश्व में बुने हुए सब तत्त्व, तू जानता है। हमें सरल मार्ग से उस परम आनंद की ओर ले जा। टेढ़ा जाने वाला पाप, तू हमसे दूर हटा। तेरी हम फिर-फिर नम्र वाणी से विनय करते हैं। तेरी हम फिर-फिर नम्र वाणी से विनय करते हैं।

ॐ। पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः